विप्लव पुस्तक माला—३

# मार्क्सवाद

कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाज शास्त्र

के

सिद्धान्तों की ऐतिहासिक व्याख्या।

यशपाल

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

संशोधित संस्करण ]

[ मूल्य २)

मेरा

यह परिश्रम

समर्पित है उन सब साथियों को जो समाजवाद को पूर्णतः समझे बिना ही उसके सुखद स्वप्नों की कल्पना किया करते हैं

और

उन सब मित्रों को जो समाजवाद का वास्तविक परिचय प्राप्त किये बिना ही उसे समाज, सभ्यता और संस्कृति का शत्रु समझते हैं।

यशपाल

| विषय | | पृष्ठ |
|---|---|---|

## भूमिका



## साम्यवाद और समाजवाद



## मार्क्सवाद

## मार्क्सवाद तथा दूसरे राजनैतिकवाद



## मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

# भूमिका

पिछले कुछ वर्षों में मनुष्य-समाज के सामने अनेक 'वाद' पेश किये गये हैं। यह सब 'वाद' मनुष्य-समाज की दिन प्रति दिन बढ़ती मानसिक और शारीरिक बेचैनी दूर करने के नुसख़े हैं। इतने अधिक नुसख़ों का पेश किया जाना इस बात की प्रबल साक्षी है कि समाज एक भयंकर रोग से पीड़ित हैं। इधर पिछले बीस वर्ष में मनुष्य-समाज का यह रोग कई रूपों में फूट निकला है। समाज में बेकारी की हाय-हाय, बाज़ारों की मन्दी, आर्थिक संकट, करोड़ों आदमियों का भूखों मरना, समाज में श्रेणियों का संघर्ष और सबसे बढ़कर युद्ध ; यह सब समाज के शरीर में समाये भयंकर रोग के प्रकट रूप हैं।

विज्ञान तेज़ी से आगे बढ़ रहा है। जो कभी कल्पना करना कठिन था आज यह सब आँखों के सामने हो रहा है। मनुष्य-समाज की इस बढ़ती शक्ति के बावजूद मनुष्य-समाज बेबस है। विज्ञान, आविष्कार और सभ्यता इन सबकी उन्नति का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य-समाज का संतोष और शान्तिपूर्वक रहकर विकास कर सकना है। सब कुछ करके भी मनुष्य-समाज का यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो रहा।

नये-नये वादों के यह नुसख़े, समाज की इस अव्यवस्था और कलह का उपाय अलग-अलग ढंग से तजवीज़ करते हैं। उदाहरणतः पूँजी-वादियों का ख़याल है कि यह आर्थिक संकट और अव्यवस्था समाज

का मामूली-सा ज़ुकाम है जो यों ही सर्दी-गर्मी से हो गया है। उसे कभी पैदावार कम कर ज़रा उपवास करना चाहिये और सब ठीक हो जायगा। नाज़ीवाद का ख़याल है समाज शिथिल और सुस्त होगया है। उसके शरीर में जहाँ-जहाँ विकार प्रकट होरहा हैं, वहाँ फस्त लगाकर ख़ून बहा देना चाहिये और बाकी शरीर को तस्मों से कस देना चाहिये।

शेष संसार चाहे गांधीवाद के सिद्धान्तों की परवाह न करे परन्तु इस देश के निवासी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। गांधीवाद समाज को निरंतर उपवास की अवस्था में रखकर उसे बढ़ने न देना ही उसे स्वस्थ रखने का उपाय समझता है। इसीलिये वह आवश्यकतायें कम करने, पैदावार के साधनों को विज्ञान के युग से पहले की अवस्था में ले जाने और भगवान से सुबुद्धि की प्रार्थना करने में ही मुक्ति का मार्ग देखता है। समाजवाद अनेक नुसख़ों में से एक है। उसका भी अपना तरीक़ा हैं। वह तरीक़ा है, ऐतिहासिक निदान के आधार पर। समाज की आदिम अवस्था से वह इस रोग के लक्षणों की खोज आरम्भ करता है और बताता है कि इस विषमता का कारण मनुष्य-समाज के पैदा कर सकने और ख़र्च कर सकने में असमानता। वह बताता है कि अवस्था बदलने पर उपचार और व्यवहार भी बदल जाना चाहिये। ऐसा न करने से; समाज की अवस्था बदल जाने पर भी यदि व्यवहार न बदलेगा तो अवस्था व्यवहार पर बन्धन लगायेगी और व्यवहार अवस्था को अव्यवस्थित कर देगा। अर्थशास्त्र की भाषा में कहा जायगा कि समाज-वाद कहता है, समाज के जीवन निर्वाह के तरीके बदल गये हैं, इस-लिये उसकी व्यवस्था को भी बदल देना चाहिये।

अतीत में मनुष्य-समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण और भविष्य का विधान तैयार हुआ है विश्वास और धारणा के आधार पर। उस क्षेत्र में मनुष्य की शक्तियाँ सीमित थीं। वह अलौकिक शक्ति और प्रकृति के हाथ में एक खिलौना था। समाजवाद समाजशास्त्र को विज्ञान की सहायता से भौतिक आधार पर खड़ा करता है, जहाँ मनुष्य ही सर्वोपरि शक्ति है।

समाज अपने पुराने संस्कारों और व्यवस्था से चिपटा हुआ है। नई बात उसे अपनी अब तक की समझ का अपमान जान पड़ता है। इसलिये वह नई बात से क्षुब्ध भी होता है और कभी-कभी नवीनता का मोह उसे उचित से अधिक आकर्षित करने लगता है। ज़रूरत है इन दोनों ही बातों से बचकर तटस्थ होकर सोचने और निश्चय करने की।

प्रस्तुत पुस्तक न समाजवाद का प्रचार करने के लिये लिखी गई है और न समाजवाद के कीटाणुओं को ध्वंस करने के लिये। यह केवल परिचयमात्र है, जिसका उद्देश्य है गहरे विचार और अध्ययन की प्रवृत्ति पैदा करना। समाजवाद को समझाने के लिये उसे जन्म देने वाले ऐतिहासिक कारणों को जानना ज़रूरी है और दूसरे वादों से उसमें तुलनात्मक विवेचना करना भी इस पुस्तक से इसी दृष्टिकोण से काम लिया गया है। समाजवाद का विवेचन होने पर भी एक पुस्तक का नाम समाजवाद न रख 'मार्क्सवाद' रखा गया है। इसका उद्देश्य मार्क्स की स्मृति पर श्रद्धा के फूल चढ़ाना नहीं इसका कारण पुस्तक में ही स्पष्ट किया गया है।

पुस्तक का आरम्भ किया गया था ऐसे मित्रों के अनुरोध से जो

'विप्लव' में प्रकाशित 'मार्क्सवाद की पाठशाला' का नियमित रूप से अध्ययन करते रहे हैं और इस विषय में गहरे जाना चाहते हैं। आरम्भ में विचार था उन्हीं लेखों को एक साथ छपवा देने का। परन्तु काग़ज़ प्रेस में दे देने पर मुझे उनसे संतोष न हुआ इसलिये प्रायः तीन सप्ताह में इस पुस्तक को आमूल लिख देना पड़ा। इस कार्य में मुझे डा० प्रकाश-पाल से तो सहायता मिली ही, इसके अतिरिक्त श्री डी० एन० वैष्णव के प्रति कृतज्ञता प्रकट किये बिना भी मैं नहीं रह सकता जिन्होंने कई घण्टे प्रति दिन पाण्डुलिपि की भाषा और प्रूफ़ आदि देखने के लिये व्यय किये, केवल एक 'थैंक्स' पर।

२६ अगस्त १६४० में मार्क्सवाद की शक्ति और वैज्ञानिकता इतनी अच्छीतरह स्पष्ट न हुई थी जितनी आज १६४४ में। रूस की समाजवादी व्यवस्था ने अपने बीस वर्ष के विकास से ही पूँजीवादी प्रणाली के कई शताब्दी के विकास की विफलता दिखा दी है। समाज के प्रति कौतुहल और जिज्ञासा के इस कारण की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

पुस्तक को संशोधित रूप में छपवाया जा रहा है।

यशपाल

## समाजवादी विचारों का आरम्भ

हम अनेक देशों में मनुष्य-समाज को संगठन और व्यवस्था के नाते अनेक रूप में देख पाते हैं। यदि इतिहास के मार्ग पर अतीत की ओर चलकर मनुष्य-समाज की आयु का उसकी अनेक अवस्थाओं में निरीक्षण करें तो मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था के और भी अनेक विचित्र रूप देखने को मिलेंगे। मनुष्य-समाज जिस किसी भी अवस्था या व्यवस्था में रहा हो, सदा उसके सन्मुख कुछ सिद्धान्त, नियम और आदर्श रहे हैं। मनुष्य-समाज की परिस्थिति और अवस्था बदलने से उसकी व्यवस्था, सिद्धान्तों, नियमों और आदर्शों में भी परिवर्तन होता रहा है।

मनुष्य-समाज के लिये आदर्श व्यवस्था, सिद्धान्त और नियम क्या हैं? इस विषय पर विचारकों में सदा ही मतभेद रहा है। इन मतभेदों का कारण रहा है; ख़ास समय में ख़ास तरह की परिस्थितियों में जीवन का विकास होने के कारण विचारकों के संस्कार और विचारधारा एक ख़ास मार्ग पर ढल जाती है। विचारक खास परिस्थितियों में पैदा होनेवाले विचारों के अनुसार मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के उद्देश्य और आदर्श को निश्चित करने का यत्न कर जाते हैं। आरम्भ में मनुष्य-समाज एक अलौकिक शक्ति (Super Natural Power) की आज्ञा और इच्छा को सामाजिक व्यवस्था का आदर्श मानकर चलता था। परन्तु समाज की व्यवस्था को भगवान् की इच्छा या अलौकिक शक्ति की प्रेरणा के अनुसार मानकर भी मनुष्य अपनी सामाजिक व्यवस्था से पूर्णतः सन्तुष्ट न हो सका। उसे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपूर्णता और त्रुटियाँ नज़र आती रहीं। अपनी परिस्थिति, अवस्था और व्यवस्था में त्रुटि अनु-

हैं। परन्तु इन उपदेशों की तह में समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने की इच्छा और उद्देश्य ही मुख्य था। समाज में शान्ति और व्यवस्था की रक्षा के उद्देश्य ने ही धर्म को जन्म दिया। मनुष्य समाज में पैदा हो जाने वाले असंतोष और अशान्ति का कारण मनुष्यों की अवस्था में आ जाने वाली असमानता थी। इसलिये सामाजिक हित के विचार से, मनुष्य-समाज का हित चाहनेवाले विचारकों ने सदा समानता का उपदेश दिया और असमानता को दूर कर समानता लाने की चेष्टा की। इन उपदेशों और चेष्टाओं का क्या परिणाम हुआ; उन्होंने इसके लिये किन उपायों का व्यवहार किया ; उन्हें कहाँ तक सफलता मिली ; इसी विषय पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

**असमानता की नींव—**

समानता की भावना को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई तथा अन्य सभी धर्मों में विशेष महत्व दिया गया है। शायद ही कोई ऐसा सन्त या समाज सुधारक हुआ होगा जिसने समानता का उपदेश न दिया हो। परन्तु मनुष्य-समाज के साधनों के विकास के साथ-साथ यह असमानता बढ़ती ही गई। मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिये सबसे अधिक महत्व जीवन निर्वाह के लिए पैदावार के साधनों का है। जिस व्यक्ति या समाज के हाथ में पैदावार के साधन जितने उन्नत होंगे, उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। जीवन निर्वाह और पैदावार के साधनों से हीन व्यक्ति को अपने जीवन की रक्षा के लिये पैदावार के साधनों के मालिक व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहना होगा, उसके वश में रहना होगा। कुछ व्यक्तियों का बहुत बड़े परिमाण में पैदावार के साधनों का मालिक बन जाना और दूसरे व्यक्तियों का इन साधनों से हीन हो जाना ही समाज में असमानता की नींव है। जिस समय तक पैदावार के साधन आरम्भिक अवस्था में थे, उनका बहुत अधिक विकास नहीं हुआ था ; कुछ व्यक्तियों के पैदावार के साधनों के मालिक

होने और दूसरों के हाथ पैदावार के साधनों के न रहने के कारण उत्पन्न होनेवाली असमानता और विषमता का रूप इतना विकट नहीं हुआ, जितना कि पैदावार के साधनों का अधिक विकास हो जाने पर होगया।

मनुष्य-समाज की बिलकुल आरम्भिक अवस्था को छोड़कर, जबकि मनुष्य वन के फलों और वन के पशुओं के मांस पर ही निर्वाह करता था, पैदावार का साधन खेती की भूमि या वन ही थे। उस अवस्था में पैदावार के साधनों की मिल्कियत का अर्थ भूमि की मिल्कियत था। उस समय मनुष्य के साधन बहुत सीमित थे, इसलिये एक सीमा तक ही वह अपने अधिकार को भूमि पर फैला सकता था। इसके अलावा भूमि की पैदा करने की शक्ति की भी एक सीमा है। इन सीमाओं के कारण भूमि के रूप में मनुष्य के हाथ में आ जाने वाले पैदावार के साधनों की भी एक सीमा थी। जो लोग निजी भूमि न होने से भूमि के मालिकों की ज़मीन पर खेती करते थे, वे एक सीमा तक ही पैदावार कर सकते थे। इसलिये उनसे उठाये जाने वाले लाभ की भी एक सीमा थी। भूमि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिये भूमि के एक ख़ास क्षेत्र पर खेती करनी ही पड़ती थी और उसके लिये मनुष्यों की एक ख़ास संख्या की ज़रूरत रहती थी। उस समय बहुत से मनुष्यों का काम कम मनुष्यों से नहीं निकाला जा सकता था। इसलिये पैदावार के साधनों से हीन बेकारों का प्रश्न उस समय नहीं उठ सकता था। बेकारों अर्थात् फालतू आदमियों के न होने से पैदावार की साधन भूमि के मालिक के लिये ऐसे आदमियों को चुन लेना सम्भव नहीं था जिन्हें अपनी मेहनत का कम से कम भाग स्वयं लेने और अधिक से अधिक भाग मालिक को देने के लिये विवश किया जा सके। उस समय यदि साधनहीन मेहनत करनेवालों को पैदावार के साधन—भूमि का उपयोग न करने देकर पैदावार के दायरे से बाहर कर दिया जाता, तो उससे पैदावार की मिक़दार में कमी आये बिना नहीं रह सकती

थी। इसलिये मालिकों की भूमि पर काम करनेवाले लोग स्वयं भूमि के मालिक न होते हुए भी इस अवस्था में थे कि अपनी मेहनत से होनेवाली उपज का अपने निर्वाह के लिये अति आवश्यक भाग रख-कर शेष मालिक को देने की शर्त पर जीवन निर्वाह का अवसर पा सकते। भूमि के अतिरिक्त दूसरे साधनों या औज़ारों से जीविका पैदा करने वाले कारीगर लोग, उदाहरणता जुलाहे, बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि अपने औज़ारों के स्वयम मालिक थे। वे अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार पदार्थों को अपने लाभ के लिये पैदा करते थे।

**असमानता में वृद्धि—**

व्यापार की बढ़ती, कलों और मशीनों के आविष्कार और उनकी उन्नति से पैदावार के साधनों की शक्ति बढ़ गई। इन आविष्कारों ने आरम्भ में तो समाज को लाभ पहुँचाया परन्तु कुछ समय में इनके कारण नई समस्यायें पैदा होने लगीं। पैदावार के साधनों की शक्ति बढ़ने से ऐसी अवस्था आई कि मशीनों की सहायता से एक मनुष्य अनेक मनुष्यों की शक्ति का काम करने लगा। जिस काम को पहले दो या अधिक मनुष्य करते थे उसे मशीन की सहायता से अब एक ही व्यक्ति कर सकने लगा। इसके साथ पैदावार के साधन मशीन का रूप धारण कर पहले के साधनों—मामूली औज़ारों की अपेक्षा कहीं ख़र्चीले हो गये, जिन्हें साधारण या कम हैसियत के व्यक्ति प्राप्त न कर सकते थे। इस अवस्था में जो व्यक्ति पैदावार के साधन संचय कर सकते थे उनकी पैदावार की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई और जो इन साधनों को प्राप्त न कर सके उनके हाथ पैदावार की शक्ति बिलकुल भी न रही। कला कौशल और उद्योग धन्दों की बढ़ती और विकास के बाद समाज में पैदावार के साधनों की मिल्कियत की दृष्टि से एक ऐसी असमानता आई जो कृषि-प्रधान काल की असमानता और विषमता से कहीं भयंकर थी।

जिस देश और समाज में औद्योगिक विकास अधिक तेज़ी से हुआ वहाँ यह विषमता भी अधिक तेज़ी से और अधिक उग्र रूप में आई। भारत की अपेक्षा योरुप में और योरुप के और देशों की अपेक्षा फ्रांस और इंगलैण्ड में औद्योगिक विकास तेज़ी से हुआ इसलिए वहाँ ही इस विषमता ने और इस विषमता के कारण पैदा होनेवाले परिणामों ने सब से प्रथम अपना रूप दिखाया और समाजवादी भावना को जन्म दिया।

मनुष्य की आर्थिक अवस्था में समानता लाने के लिये समाज की व्यवस्था में परिवर्तन करने की जो विचारधारा आज दिन समाजवाद या मार्क्सवाद के नाम से हमारे सामने आ रही है, उसे अनेक व्यक्ति भारतीय वातावरण और संस्कृति के लिये विदेशी और अनुपयुक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में इस देश की परिस्थितियों में समाजवाद की विदेशी विचारधारा के लिये गुंजाइश नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद की विचारधारा पहले पश्चिम में ही विकसित हुई और वहीं से इसका प्रचार बढ़ा। पश्चिम के देशों में ऐसी विचारधारा पैदा करनेवाली परिस्थितियाँ भारत से पहले पैदा हुईं परन्तु समय गुज़रने के साथ वह परिस्थितियाँ इस देश में भी उत्पन्न हो गई हैं। इसलिये भारत का ध्यान भी उस ओर उतने ही वेग से जा रहा है।

सन्तों का साम्यवाद—

समता या साम्यवाद भारत की पुरानी चीज़ है। दया, धर्म और मनुष्यता के नाते समानता की भावना मनुष्य-समाज में बहुत पुरानी है। इस दृष्टि से समानता और साम्यवाद के आदर्श का उपदेश देनेवालों की इस देश में कमी नहीं बल्कि अधिकता ही रही है। इस प्रकार का साम्यवाद जिसे हम सन्तों का साम्यवाद कह सकते हैं, कृषि और व्यापार के कारण उत्पन्न होनेवाली असमानता के युग की चीज़ थी। परन्तु पैदावार के साधनों में उन्नति हो जाने से, मनुष्य मनुष्य की

शक्ति में भयंकर अन्तर आ जाने पर जो समानता की आवाज़ उठी वह दूसरे प्रकार की है। यह दूसरे युग की समानता की आवाज़ दया, धर्म और मनुष्यता की नींव पर नहीं, बल्कि समाज और व्यक्ति के लिये जीवन के अधिकारों के रूप में उठी है। कृषि और सामन्तयुग* में साम्य-वाद की पुकार का उद्देश्य था, उस समय मौजूद सामाजिक व्यवस्था में अशान्ति को प्रकट होने से रोकना। इस पुकार को उठाने वाले स्वयं सम्पन्न लोग थे। परन्तु औद्योगिक काल में उठने वाली समाजवाद की पुकार का उद्देश्य था, इस समय मौजूद सामाजिक व्यवस्था को बदल देने का प्रयत्न। यह पुकार उठाई स्वयं शोषितों ने।

भारत की अवस्था दूसरी है। बहुत समय तक औद्योगिक और व्यापारिक विकास यहाँ की अशान्त राजनैतिक परिस्थिति के कारण न हो सका, इसलिये यहाँ आर्थिक विषमता भी विकट रूप धारण न कर सकी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक और मध्यभाग में जब योरुप राजनैतिक स्थिरता के समय आविश्कारों द्वारा औद्योगिक और व्यापा-रिक उन्नति में लगा हुआ था, उस समय भारत छोटे-छोटे राजनैतिक भागों में बँटा था, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। जीवन निर्वाह के साधन जलवायु और भूमि के अनुकूल होने के कारण सुगमता से से प्राप्त हो जाते थे परन्तु न वह राजनैतिक शान्ति थी और न जीवन का प्रकृति के साथ वह संघर्ष, जो विकास और आविष्कार को जन्म देता है।

---

* सामन्तयुग इतिहास में वह युग था जिसमें भूमि के स्वामी सामंत, सरदारों और जागीरदारों की प्रधानता थी और वे लोग ही व्यवस्था के कारणधार थे।

# साम्यवाद और समाजवाद

आरम्भिक बात—

अंग्रेज़ी शब्द सोशलिज्म के लिये हिन्दी में साम्यवाद और समाजवाद शब्दों का व्यवहार होता है। परन्तु साम्यवाद और समाजवाद शब्दों का एक ही अर्थ नहीं। मोटी नज़र से विषमता और असमानता के विरुद्ध वे एक ही भावना को प्रकट करते हैं ; परन्तु यदि शब्द किसी कार्यक्रम या समाज के किसी रूप की कल्पना हैं तो इनका अर्थ भी भिन्न-भिन्न है।

समाजवाद के विचारों के विकास के इतिहास में इन दोनों ही शब्दों का स्थान है, परन्तु अलग-अलग अवस्थाओं में। यह दोनों शब्द एक ही विचार प्रकट नहीं करते। साम्यवाद का अर्थ है—समाज में समानता लाना। वह समाज की एक अवस्था को प्रकट करता है। समाजवाद शब्द समाज की अवस्था को प्रकट करने के साथ ही एक साधन की ओर भी इशारा करता है। साम्यवाद का अर्थ है—समाज में सब समान हों। समाजवाद का अर्थ है—समाज स्वामी हो। समाजवाद का अनुवाद अंग्रेजी में 'सोशलिज्म'—'सोसाइटी की प्रधानता' समझना ठीक है परन्तु साम्यवाद का अंग्रेजी अनुवाद सोशलिज्म न होकर 'इक्वेलिटेरियनिज्म'—इक्वेलिटी (समानता) की प्रधानता' करना ठीक होगा।

साम्यवाद और समाजवाद विचारों के विकास की स्पष्ट अलग-अलग अवस्थायें हैं। विषमता के कारण समाज में उत्पन्न होने वाली अशांति ने समानता की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति की, वह साम्यवाद की बात सोचने लगा। साम्यवाद की ओर प्रवृत्ति होजाने पर समानता को प्राप्त करने का साधन उसने सोचा—व्यक्ति के बजाय समाज का शासन—समाजवाद।

फ्रांस—

वर्तमान समय में समाजवाद का गढ़ रूस समझा जाता है। परन्तु समाजवादी विचारधारा का आरम्भ हुआ सब से प्रथम फ्रांस और इंगलैण्ड में। उसके वैज्ञानिक विकास का श्रेय है जर्मनी के विचारकों को और क्रियात्मक रूप में वह आया सब से पहले रूस में। इतिहास के इस क्रम को ध्यान में रखने से यह विचार कि समाजवाद रूस या दूसरे पश्चिमी देशों के वातावरण और वहाँ की जनता की मनोवृत्ति के ही अनुकूल कोई खास विचारधारा है, पूर्व में उसकी ज़रूरत और गुँजाइश नहीं, इतिहास की दृष्टि से सही नहीं जान पड़ता।

समाजवादी विचारों का सबसे पहला परिचय हमें, साम्यवाद के रूप में, फ्रांस और इंगलैण्ड के विचारकों से मिलता है। फ्रांस का पहला साम्यवादी विचारक था सेण्ट-साइमन (Saint Simon)। इसका जन्म सन् १७६० में हुआ था। इंगलैण्ड के पहले साम्यवादी रॉबर्ट ओवन का जन्म हुआ था सन् १७७१ में। इन दोनों ही विचारकों पर अपने देश में नये आने वाले औद्योगिक परिवर्तन के कारण बढ़ती हुई विषमता का गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय के अंग्रेज़ मज़दूरों की अवस्था के विषय में उस समय का प्रसिद्ध लेखक थॉमस किर्कप (Thomas Kirkup) यों लिखता है:—

( १ ) किसानों और मज़दूरों का निर्वाह उन्हें मिलनेवाली मज़दूरी से होना असम्भव है।

( २ ) उनके निवास स्थानों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है।

( ३ ) पूँजीपति और ज़मीन्दार लगातार मज़दूरी घटाने का यत्न करते रहते हैं और इसके लिये बजाय मर्दों के स्त्रियों और बच्चों को काम पर लगाया जाता है, जिनसे काम उनकी शक्ति भर लिया जाता है परन्तु मज़दूरी आधी या उससे भी कम दी जाती है। इसके परिणामस्वरूप मज़दूरों और किसानों में बेकारी खूब बढ़ गई है।

( ४ ) अपनी अवस्था में सुधार करने का कोई राजनैतिक साधन या अधिकार मज़दूरों के हाथ में नहीं। वे न तो अपना संगठन ही कर सकते थे, न क़ानून आदि के सम्बन्ध में वोट द्वारा अपनी राय दे सकते हैं।

( ५ ) शिक्षा प्राप्त करने का उन्हें कोई अवसर नहीं। उनमें शराबखोरी और व्यभिचार बेहद बढ़ रहा है। मर्दों की अपेक्षा स्त्रियों की मज़दूरी सस्ती है, इसलिये उन्हें आसानी से काम मिल जाता है और मर्द प्रायः स्त्रियों की कमाई पर निर्वाह करते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा बच्चों से काम लेना और भी अधिक सस्ता पड़ता है इसलिये प्रायः पाँच-छः बरस की आयु में बच्चों को काम पर लगाकर उनसे चौदह-चौदह घण्टे काम लिया जाता है और बारह-चौदह वर्ष की आयु तक इन बच्चों को बिलकुल निस्सत्व कर भूखों मरने के लिये बेकार छोड़ दिया जाता है।

डिकन्सले उस समय का एक प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक हुआ है। अपने समय के अंग्रेज़ किसानों और मज़दूरों की अवस्था का जो वर्णन उसने किया है उसे पढ़कर एक भयंकर नरक का दृश्य आँखों के सामने नाचने लगता है। फ्रांस के मज़दूरों और किसानों की अवस्था इससे अच्छी न थी। दोनों ही देशों में उत्पत्ति के नये विकसित साधनों के कुछ एक पूँजीपतियों के हाथों और ज़मीन्दारों के आधीन भूमि सिमिट जाने से एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की पैदा हो गई, जिनके अपने हाथ में पैदावार के कोई भी साधन न रहे। और उन्हें अपना पेट पालने के लिये अपने शरीर की श्रम शक्ति मालिकों के हाथ किराये पर देनी पड़ती थी।

समाज की इन विषमताओं को दूर करने के लिये फ्रांस में सेण्ट-साइमन ने आवाज़ उठाई। वह समाज की अवस्था में सरकार की शक्ति से सुधार द्वारा समता लाना चाहता था। उसके विचार में सरकार की बाग-डोर धर्मात्मा और वैज्ञानिक लोगों के हाथ में रहनी चाहिये थी

और समाज में पूंजीपतियों के हित को प्रधान महत्व न देकर संपूर्ण समाज के हित को महत्व दिया जाना चाहिये था। उसके विचार में कम योग्य और शक्तिहीन लोगों के हितों और अधिकारों की रक्षा का बोझ योग्य मनुष्यों पर रहना चाहिये था। सेण्ट-साइमन का ग़रीबों के लिये समानता का दावा मनुष्यता के नाते था, इसलिये नहीं कि ग़रीब या मज़दूर ही अपने परिश्रम से समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं की पैदावार करते हैं। अपने समय की सामाजिक विषमता की ओर उसका ध्यान गया परन्तु विषमता उत्पन्न करनेवाले कारणों की ओर उसका ध्यान न गया। परिश्रम और पूँजी में क्या सम्बन्ध है, इस बात को उसने स्पष्ट नहीं किया। बजाय यह समझने के कि पैदावार के साधन हाथ में होने से कुछ मनुष्य अधिक सामर्थ्यवान हो गये हैं, उसने यह समझा कि सामर्थ्यवानों के हाथ में पैदावार के साधन चले जाते हैं क्योंकि वे बलवान हैं इसलिए वह सामर्थ्यवानों को दया और न्याय का उपदेश देता था।

सेण्ट-साइमन ने अपनी कल्पना के अनुसार समाज का एक ढाँचा तैयार किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार स्थान देकर ग़रीबों को भी जीवन का अवसर समान रूप से देने की व्यवस्था की गई थी। इस व्यवस्था में समाज की आवश्यकताओं के विचार से पैदावार का प्रबन्ध सरकार द्वारा किये जाने का सिद्धान्त रखा गया। यह सरकार ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार क़ायम होनी चाहिये थी। सेण्ट-साइमन ने अपने साम्यवादी विचारों को समाज के आर्थिक संगठन पर नहीं बल्कि मनुष्य की सहृदयता की नींव पर खड़ा किया।

धार्मिक भावना के नाम पर प्रचार करने के कारण उसके प्रति फ्रांस की जनता में पर्याप्त सहानुभूति उत्पन्न हो गई। परन्तु जब साइमन ने पुराने धार्मिक विश्वासों का खण्डन करना शुरू किया तो वह सहानुभूति विद्रोह के रूप में भी शीघ्र ही परिवर्तित हो गई। अपने

जीवन काल में उसने अनेक साम्यवादी मठ स्थापित किये, जो उसके जीवन का अन्त होते ही समाप्त हो गये। सेण्ट-साइमन ने अपने विचार अपनी पुस्तकों (Du System Industrial, Catechisme des Industrials और Nouveau Christianisme) में प्रकट किये हैं। इन पुस्तकों में अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण नहीं भावुकता की ही प्रधानता है। सेण्ट-साइमन के पश्चात उसके शिष्यों, आँफाँतीं, बज़ाद आदि में मतभेद हो जाने से उनके संगठन देर तक न टिक पाये।

सेण्ट-साइमन के बाद फ्रांस में साम्यवाद का प्रचार करने वाले विचारकों में ख़ास व्यक्ति लूई-ब्लाँ (Louis Blanc) था जिसके विचारों में आधुनिक समाजवाद की ओर विकास के संकेत मिलते हैं। लूई-ब्लाँ का जन्म सन् १८११ में हुआ। वह प्रतिभाशाली लेखक था। उसकी पुस्तक 'परिश्रम का संगठन' (Organisation du Travail) ने फ्रांस के मज़दूरों में जीवन फूँक दिया! लूई ब्लाँ पहला समाजवादी था जिसने मज़दूर किसानों को राजनैतिक शक्ति हाथ में लेने की आवश्यकता सुझाई। लूई ब्लाँ के विचार का आदर्श था एक औद्योगिक सरकार जो राष्ट्र के उद्योग धन्धों का प्रबन्ध करे और बैंकों को नियंत्रण में रखे। यह सरकार पूर्णतः प्रजातंत्र होनी चाहिये और उद्योग-धन्दों और कारखानों में परिश्रम और प्रबन्ध करने वाले व्यक्तियों को अधिकार होना चाहिये कि अपने-अपने व्यवसायों के मैनेजर, डाइरेक्टर आदि का चुनाव स्वयम् करें और अपने व्यवसाय से होनेवाले मुनाफ़े को आपस में बाँट परस्पर सहयोग से अपने कारोबार को बढ़ाये।

लूई-ब्लाँ उत्पादक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकारों को भी उचित नहीं समझता था। सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण या सामाजिक अधिकार में लाने की तजवीज़ उसने यह रखी कि सरकार की ओर से भारी-भारी

व्यवसाय आरम्भ किये जायँ, जिनकी सफलता के सम्मुख निजी कारोबार स्वयम् समाप्त हो जाँयगे।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति से शक्ति आम जनता के हाथ में नहीं आई। राजसत्ता और सामन्तशाही के हाथ से निकली शक्ति नयी उठती पूँजी की मालिक मध्यम-श्रेणी के हाथों चली गई। सम्पत्तिहीन श्रेणियों को इससे संतोष न हुआ। इसलिये क्रान्ति के छोटे-छोटे अनेक प्रयत्न फ्रांस में हुए जिनसे राजनैजिक अधिकारों का कुछ विस्तार नागरिकों की निम्न श्रेणियों में भी हुआ। फ्रांस की सन् १८४८ की समाजवादी-प्रजातंत्र-राज्यक्रान्ति का समाजवाद के इतिहास में विशेष महत्व है। इस क्रान्ति में समाजवादी व्यवस्था को क्रियात्मक रूप देने का पहला प्रयत्न किया गया। यह प्रयत्न यद्यपि असफल हुआ परन्तु अपने बीज भविष्य के लिये छोड़ गया। लूई-ब्लाँ का इस क्रान्ति पर विशेष प्रभाव था और उसके प्रभाव के कारण उस समय की प्रजातंत्र सरकार को सामाजिक सम्पत्ति और नियंत्रण में चलने वाले व्यवसायों के लिये १,२०००० पाउण्ड की रकम नियत करनी पड़ी। परन्तु इसका विशेष फल न हुआ; क्योंकि इस रक़म का प्रबन्ध जिन लोगों के हाथों में था, उनकी सहानुभूति इस उद्देश्य के प्रति न थी।

फ्रांस में समाजवादी विचारधारा के प्रवर्तकों में प्रौंधों (Proud-hon) का ज़िक्र न करने से समाजवाद के विकास की एक कड़ी का स्थान खाली रह जाता है। प्रौंधों के प्रभाव का समय प्रायः सन् १८४० से १८७० तक रहा। यद्यपि प्रौंधों समाजवादी होने की अपेक्षा 'शासनहीन व्यवस्था' का ही अधिक समर्थक था; फिर भी अपने समय में उसने कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया जिन्हें वैज्ञानिक रूप देने के कारण मार्क्स समाजवाद के सिद्धान्तों की वह ठोस नींव तैयार कर सका जिस पर आज वह क़ायम है।

सम्पत्ति के विषय में प्रौंधों के विचार आमूल क्रान्ति के थे। सन्

१८४० में उसने एक पुस्तक "सम्पत्ति है क्या ?" (Que'st ce que la Propertie ?) प्रकाशित की। इस पुस्तक में उसने सिद्ध करने की चेष्टा की कि "संपत्ति चोरी है" (Propertie cest la vol) उसकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक "न्याय और धर्म की धारणा में क्रान्ति" (La revolution dans la justice et dans Ia I'eglis) ने भी प्राचीन विचारधारा ली नींव खोखली करने में विशेष काम किया।

प्रोंधों पहला विचारक था जिसने इस बात को सुझाया कि किसान-मज़दूर के साधनहीन होने के कारण उसे अपने परिश्रम का पूरा मूल्य नहीं मिलता और साधनों का मालिक बिना परिश्रम किये ही परिश्रम का फल हथिया लेता है। मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' * (Theory of Surplus value) के जिस सिद्धान्त की स्थापना की, उसकी ओर पहला अविकसित संकेत हम यहीं पाते हैं। प्रोंधों समाज में मौजूद सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सम्पूर्ण समाज की मिल्कियत का समर्थक था।

सरकार की व्यवस्था के बारे में प्रोंधों के लिये यह सह्य न था कि मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किसी प्रकार का शासन हो। जिस शासन में व्यक्ति को अपने विकास के लिये पूर्ण अवसर न हो, वह उसकी दृष्टि में केवल अत्याचार था।

समाज की व्यवस्था के साथ धर्म-विश्वास का गहरा सम्बन्ध रहता है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने की चेष्टा धर्म-विश्वास और समाज के मौजूदा रीति रिवाज़ को चोट पहुँचाये बिना नहीं रह सकती। यद्यपि फ्रांस के आरम्भिक समाजवादी सेण्ट-साइमन, फूरियर, लूई-ब्लाँ आदि आध्यात्मिक शक्ति से मुनकिर न थे, उन्होंने धार्मिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध और विशेषकर गृहस्थ के बन्धनों, स्त्रियों के पुरुष और परि-

---

* अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त क्या है, इस पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

वार की सम्पत्ति समझे जाने के प्रति भी आवाज उठाई। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में इन लोगों के रीति रिवाज़ की उपेक्षा करने का परिणाम यह हुआ कि दूसरों की दृष्टि में यह लोग आचारहीन जँचने लगे। एक हद तक इन लोगों के विचारों के प्रभाव के कारण जनता के आचार में उच्छृङ्खलता भी आ गई। इस कारण पुरानी आचार निष्ठा में विश्वास रखनेवाले लोगों को इनके प्रति अश्रद्धा होने लगी और जनता में इनके प्रति अविश्वास फैल गया। प्रॉधों ने अनुभव से इस प्रकार की उच्छृङ्खलता का घोर विरोध किया। उसने कहा, स्त्री-पुरुष के आचार सम्बन्धी नियमों को धार्मिक भय से न मानकर, वैयक्तिक विकास का साधन और व्यवस्था के लिये आवश्यक समझना चाहिये। उसके इन विचारों का क्रियात्मक रूप हम रूस के मौजूदा समाज में देख पाते हैं, जहाँ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध, विवाह आदि का धर्म से कोई सम्बन्ध न होने पर भी इस प्रकार की उच्छृङ्खलता को व्यक्ति और समाज के लिये हानि का कारण और उनके विकास में बाधक समझकर दूर रखने की चेष्टा की जाती है।

इंगलैण्ड—

फ़्रांस की भाँति इंगलैण्ड में भी समाजवादी विचारों का आरम्भ साम्यवाद और समता के प्रयत्नों के रूप में हुआ। इंगलैण्ड का पहला साम्यवादी था 'रॉबर्ट ओवन' (Rober-Owen) था हम ऊपर कह आये हैं, रॉबर्ट-ओवन फ़्रांस के पहले साम्यवादी सेण्ट-साइमन का समकालीन था। राबर्ट व्यापारिक और प्रबन्ध कौशल की दृष्टि से बहुत सफल व्यक्ति था। उसका पिता जीनसाज़ की मामूली दूकान करता था परन्तु रॉबर्ट अपने परिश्रम और कौशल से उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही इंगलैण्ड की एक बड़ी कपड़ा मिल का मैनेजर बन गया। मिलों और व्यापार से सम्बन्ध रहने के कारण उसे दिन-प्रतिदिन मज़दूरों की गिरती अवस्था और पूँजीपतियों के बढ़ते वैभव, दोनों का ही भलीभाँति परिचय था।

अपनी व्यापारिक योग्यता के कारण वह कई मिलों का पत्तीदार बन, मिलों से होनेवाले लाभ से स्वयम् भी लखपती बन गया। रॉबर्ट समाज की अवस्था के इस विरोधाभास से परेशान था कि समाज में पैदावार के साधन उन्नति करते जाते हैं, धन बढ़ता जाता है, परन्तु मज़दूरों और भूमिहीन किसानों की अवस्था गिरती चली जाती है। समाज में बढ़ते धन से ग़रीबों और मज़दूरों की अवस्था भी सुधरनी चाहिए, इस विचार से उसने मज़दूरों की हालत सुधारने के लिये स्कूल खोलने आरम्भ किये।

अपना रुपया बहाकर उसने अलग स्थानों पर मज़दूरों की बस्तियाँ बसाईं, जहाँ उन्हें साफ़ रहने, व्यवहार ठीक रखने की शिक्षा दी जाती। मज़दूरों के लिये उसने इस प्रकार की दुकानें खोलीं जिनमें अच्छे और बढ़िया सामान प्रायः केवल लागत पर ही मिल सकते थे। मज़दूरों की अवस्था में सुधार करने के लिये उसने एक नई कम्पनी चलाई, जिसके हिस्सेदार केवल ५% मुनाफ़ा लेकर ही सन्तुष्ट हों और मुनाफ़े का शेष भाग मज़दूरों की भलाई में ख़र्च किया जाय। इस प्रकार की जनसेवा या परोपकार के कामों में रॉबर्ट को सफलता भी पर्याप्त मिली। परन्तु उसके यह सब काम ग़रीबों के प्रति दया और सहानुभूति के परिणाम थे। इनकी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का विचार न था। उन दिनों इंगलैण्ड की मिलों में मज़दूरों की अवस्था को सुधारने के लिये बननेवाले कानूनों को पास कराने में भी रॉबर्ट ने विशेष प्रयत्न किया।

सन् १८१३ तक रॉबर्ट एक सुधारक के रूप में रहा, यह इसकी पुस्तकों 'समाज का नया दृष्टिकोण' (A new view of Society—1813) और 'मनुष्य के आचरण के संबंध में निबंध' (Essays on the Principle of Formation of Human Character—1813) से प्रकट है। परन्तु सन् १८१७ से उसके विचारों में उग्रता आने लगी। सबसे पहले पार्लियामेण्ट में पेश 'ग़रीब सहायक कानून'

(Poor Law) पर रिपोर्ट देते समय उसने लिखा था—मज़दूरों की दुरावस्था का कारण है, मशीनों द्वारा उनके परिश्रम का मूल्य घटा देना।

### माल्थस—

अर्थ शास्त्र या समाज शास्त्र के विकास का कोई भी वर्णन 'माल्थस' (Malthus) और उसके विचारों की चर्चा बिना अपूर्ण रहेगा। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में, पैदावार का प्रयोजन पैदावार के साधनों के स्वामी पूँजीपति का पेट भरना ही था और जब मज़दूरों द्वारा मशीनों पर कराई जाने वाली पैदावार द्वारा मज़दूरों के शोषण पर कोई प्रतिबन्ध—उदाहरणतः काम के समय या कम-से-कम मज़दूरी आदि कानूनों की सीमायें न लगाई गई थीं, मज़दूरों की बेकारी और दुरावस्था अत्यंत भयंकर रूप धारण कर गई। उस अवस्था को देख माल्थस इस परिणाम पर पहुँचा कि समाज में सब लोगों के समुचित निर्वाह के लिये पर्याप्त पैदावार नहीं हो रही। उसने अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त क़ायम किया कि पैदावार एक सीमा तक ही बढ़ाई जा सकती है। उसके पश्चात् जितना भी परिश्रम पैदावार को बढ़ाने के लिये किया जायगा निश्फल होगा। इसलिये समाज को संतुष्ट रखने के लिये समाज में मनुष्यों की संख्या एक सीमा के अन्दर ही रहना चाहिए।

माल्थस का विचार था कि इंगलैण्ड फ्रांस आदि देशों में बढ़ती बेकारी का कारण इन देशों की जन-संख्या का पैदावार के साधनों के सामर्थ्य से अधिक बढ़ जाना है। इसलिये इन देशों में बेकारी और मज़दूरों की दुरावस्था होना स्वाभाविक है और इसका उपाय केवल जनसंख्या का घटना है। जिसे प्रकृति बीमारी, बेकारी और युद्ध द्वारा घटाने की चेष्टा करती रहती है। रॉबर्ट ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध कर पैदावार और जनसंख्या के आंकड़ों के हिसाब से यह दिखाया कि समाज में धन और पैदावार की जितनी बढ़ती हुई है, जनसंख्या की बढ़ती उतनी नहीं हुई। पैदावार के साधनों में उन्नति होने से समाज

में प्रति मनुष्य धन का परिमाण बढ़ गया है परन्तु इस बढ़े हुए धन का बँटवारा उचित रूप से न होने के कारण कुछ मनुष्यों के पास आवश्यकता से अधिक और कुछ के पास आवश्यकता से बहुत कम धन जाकर उनकी अवस्था संकटमय हो जाती है। माल्थस के सिद्धान्त यद्यपि सचाई की कसौटी पर पूरे नहीं उतरे परन्तु समाजशास्त्र के विकास में उनका विशेष महत्व है, क्योंकि माल्थस के सिद्धान्त अर्थ-शास्त्र के विकास में उस मंजिल की सूचना देते हैं, जहाँ पूँजीवादी अर्थशास्त्र* के नियम समाज में व्यवस्था क़ायम करने में अपने आपको असमर्थ अनुभव करने लगते हैं और समाज में शान्ति रक्षा का उपाय केवल समाज की संख्या को कम करना बताते हैं।

रॉबर्ट के विचारों में हम विकास का एक स्पष्ट क्रम देख पाते हैं। १८३५ में लिखी उसकी पुस्तक 'गरीबों का संरक्षक' (Poor Man's Guardian) में स्पष्ट उन विचारों को देख पाते हैं, जिन्हें मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य' (surplus vaule) के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की भूमिका कहा जा सकता है। रॉबर्ट लिखता है—"सम्पूर्ण पैदावार मज़दूर और किसानों के श्रमसे ही होती है परन्तु सब कुछ पैदा कर भी इन्हें केवल प्राणरक्षा के योग्य भोजन पाकर ही सन्तुष्ट होजाना पड़ता है। शेष चला जाता है पूँजीपति, ज़मीन्दार, राजा और पादरियों की जेब में।

सहयोग द्वारा पैदावार की पद्धति के विचार का श्रेय भी रॉबर्ट को ही है, जिसका कि आज सभ्य संसार के सभी देशों में काफ़ी प्रचार दिखाई देता है। 'सोशलिज़्म'—समाजवाद शब्द का सबसे प्रथम प्रयोग भी रॉबर्ट द्वारा स्थापित 'सम्पूर्ण राष्ट्रों की सम्पूर्ण श्रेणियों के सहयोग की संस्था' The Association of All classes of all Nations) के वाद-विवादों में ही हुआ।

---

* पूँजीवादी अर्थशास्त्र से अभिप्राय है अर्थशास्त्र का वह क्रम जो पूँजी के हित और स्वतंत्र व्यापारी प्रतियोगिता को प्रधानता देता है।

हम ऊपर कह आये हैं, आरम्भ में रॉबर्ट द्वारा चलाये गये मज़दूर सहायक आन्दोलन की जड़ में धार्मिकता, दया और मनुष्यता की भावना ही प्रधान थी। इसलिये अमीर संपन्न श्रेणियों की आत्माभिमान की भावना के पूर्ण होने की उसमें काफ़ी गुंजाइश थी। इसलिये उसे इन श्रेणियों का—धर्माधिकारियों और इंगलैण्ड के राजवंश का सहयोग भी प्राप्त हुआ। परन्तु ज्योंहीं रॉबर्ट ने पूँजीवादी समाज के चौखटे को जकड़े रखने वाली धार्मिक भावना पर चोट करना आरम्भ किया, लोग उससे बदज़न होने लगे। उसके संगठनों का शीराज़ा बिखर गया, अपना बहुत सा धन अपने अनुभवों में फूँक देने के बाद वह स्वयं ख़स्ता हाल हो गया। दूसरे सम्पन्न लोगों ने उसे आर्थिक सहायता देना भी स्वीकार न किया। इससे उसका साम्यवादी मज़दूर-सहायक आन्दोलन स्वयं तो बिखर गया परन्तु असंतोष के बीज छोड़ गया।

रॉबर्ट का आन्दोलन समाप्त हो जाने पर भी इंगलैण्ड में मज़दूरों की दुरावस्था के प्रति जाग उठी सहानुभूति समाप्त न हो गई और क्रिश्चियन-समाजवाद के रूप में एक सुधारवादी आन्दोलन चलना आरम्भ हुआ। रॉबर्ट द्वारा चलाई सहयोग प्रणाली का जहाँ पैदावार से सम्बन्ध था, वह प्राय; असफल ही रही। अलबत्ता जहाँ खपत के लिये—अर्थात् उपयोगी पदार्थों को सहयोग से ख़रीद कर सस्ते में प्राप्त करने का सवाल था—यह प्रणाली एक हद तक सफल हो सकी।

## जर्मनी—

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में साम्यवादी या समाजवादी विचारों की जो लहर इंगलैण्ड और फ्रांस में उठी, वह कोई स्थायी परिणाम पैदा किये बिना ही इस सदी के मध्य में ( १८५० ) कुछ समय के लिये दब सी गई! इसके बाद इस विचारधारा का विकास हुआ रूस

और जर्मनी में। जर्मनी के समाजवादी विचारकों में 'कार्ल मार्क्स' ( Karl Marx ) 'फ्रेडरिक एंगल्स' ( Ferdrich Engles ) 'लास्साल' ( Lassalle ) और 'रॉडबर्टस' (Rodburtus) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मार्क्स की खोज और सिद्धान्तों का समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा यही इस सम्पूर्ण पुस्तक का विषय है और उस पर हमें विस्तार करना है ; परन्तु उस मूल विषय पर आने से पहले समाजवादी विचारधारा पर लास्साल और रॉडबर्टस के प्रभाव पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। समाजवादी विचारधारा के इंगलैण्ड और फ्रांस में दब जाने और जर्मनी तथा रूस में उग्ररूप से उठ जाने के कारण पर भी ध्यान देना समाजवाद के ऐतिहासिक विकास क्रम को समझने में सहायक होगा। परन्तु इस विषय को यहाँ न आरम्भ कर इसे हम मार्क्स के सिद्धान्तों पर विचार करते समय ही लेंगे और उसी समय हम समाजवाद के स्थान पर मार्क्सवाद शब्द को व्यवहार करने की सफ़ाई देंगे।

'लास्साल' ( Ferdinand Lassalle ) जाति का यहूदी था। उसका जन्म सन् १८२५ में एक अमीर व्यापारी के घर हुआ। विशेष प्रतिभाशाली होने के साथ उसे ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त करने का भी पर्याप्त अवसर मिला। प्रतिभाशाली व्यक्तियों की साधारण स्वच्छन्दता भी लास्साल में कम न थी। शौक़ और मिजाज से वह बड़े आदमियों के ढंग का था परन्तु विचारों में अपने समय का उग्र क्रान्तिकारी। घटनाक्रम से लास्साल जर्मनी में विशेष उथल-पुथल के समय आया। उसके विचार जनता के सामने सन् १८६० के बाद आये और यह वह समय था जब प्रशिया के नेतृत्व में जर्मन-राष्ट्र का निर्माण हो रहा था। एक ओर बिस्मार्क था जो राजसत्ता की शृंखला में बाँधकर जर्मनी को ज़बरदस्त शक्ति बना देना चाहता था, दूसरी ओर थे जर्मनी के उदार दल वाले जो प्रजातंत्र के हामी थे। लास्साल इन दोनों से ही असह-

मत था। उसने अपना दल 'समाजवादी-प्रजातंत्र' (Social Democrtic Party) के नाम से क़ायम किया।

लास्साल और कार्ल मार्क्स तथा रॉडबर्टस के विचारों में बहुत कुछ साम्य है। लास्साल अनेक बातों में अपने आपको मार्क्स और रॉडबर्टस का अनुयाई समझता था; परंतु फिर भी लास्साल का अपना एक स्थान है। लास्साल के दृष्टिकोण में हम भावुकता की अपेक्षा वास्तविकता का अधिक आभास पाते हैं और लास्साल द्वारा वास्तविकता की ओर होने वाली प्रवृत्ति मार्क्स तक पहुँचकर वैज्ञानिक हो जाती है। इसीलिये हमें उसके राजनैतिक, आर्थिक सिद्धांतों तथा वैज्ञानिक समाजवाद में अधिक अंतर नहीं दिखाई देता।

लास्साल का ( Iron Law of vages ) मज़दूरी के लौह पंजे का नियम उसके आर्थिक और सामाजिक सिद्धांतों की नींव है; ठीक उसी प्रकार जैसे मार्क्स की विचारधारा की नींव 'अतिरिक्त मूल्य' ( Surplus value ) का सिद्धांत है। लास्साल कहता है, पूँजी के नियंत्रण के कारण मजदूर को पैदावार का कम से कम भाग मिल पाता है—मार्क्स भी यही कहता है; परन्तु वह इसके कारणों पर सफलतापूर्वक प्रकाश डालता है।

इससे पूर्व जितने समाजवादी विचारक हुए; उन्होंने समाज की सहानुभूति, सरकारी क़ानून और सहयोग संस्थाओं द्वारा मज़दूरों और किसानों की अवस्था सुधारने की ओर ध्यान दिलाना चाहा। परन्तु लास्साल इस परिणाम पर पहुँच गया था कि यह सब संस्थायें पूँजीवाद के युग में जहाँ, व्यक्तिगत मुनाफ़े का राज है और जहाँ मज़दूर के शोषण की कोई सीमा नहीं, कभी सफल नहीं हो सकती! यह सिद्धान्त मार्क्स द्वारा निश्चित सिद्धान्त—स्वयम मेहनत करने वाली श्रेणी का राज ही वास्तव में सर्वजनहित की रक्षक सरकार हो सकती है—की भूमिका है। इसके आगे लास्साल ने समाज में पूँजी और

मज़दूरों के हितों के विरोध को हटाने की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया। यहाँ तक पहुँचकर भी क्रियात्मक क्षेत्र में लास्साल मज़दूरों की ऐसी औद्योगिक पंचायती संस्थाओं के विचार से आगे न बढ़ सका। उनके हाथ में राजनैतिक शक्ति होना उसके विचार में अनिवार्य न था। वह मज़दूरों की पंचायती संस्थायें आरम्भ कराना चाहता था क़ायम सरकार के भरोसे! परन्तु मार्क्स सरकार की शक्ति को ही पूर्ण-रूप से मज़दूरों के हाथों सौंपे बिना कोई चारा नहीं देखता।

मार्क्स के इस सिद्धांत का बीज हमें लास्साल के दो और सिद्धांतों में अविकसित रूप में दिखाई देता है। वे सिद्धांत हैं, 'सम्मिलित उत्तर-दायित्व' (Theory of Conjunctures) और 'पूँजी के स्वामित्व' (Theoy of Caqital) के सम्बन्ध में। 'सम्मिलित उत्तरदायित्व' से लास्साल का अभिप्राय है कि समाज के आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिये मनमानी करने की स्वाधीनता न होकर सामाजिक हित की दृष्टि से समाज का आर्थिक कार्यक्रम निश्चित होना चाहिये : क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार का प्रभाव समाज की अवस्था पर पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति समाज की अवस्था पर निर्भर रहता है। पूँजी के विषय में लास्साल का कहना था कि पूँजी ऐति-हासिक कारणों से पैदा हुई है, समाज को इसकी आवश्यकता है। समाजवाद यह नहीं कहता कि पूँजी न रहे, बल्कि वह यह कहता है कि पूँजी पर एक व्यक्ति के स्वामित्व की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व ही समाज के हित के अनुकूल है। [illegible] मार्क्स इससे आगे जाता है। वह सिद्ध कर देता है कि पूँजी एक [illegible] के परिश्रम की उपज नहीं बल्कि समाज के सम्मिलित परिश्रम [illegible] है, इसलिये वह समाज की ही सम्पत्ति है।

रॉडबर्टस

भिन्न-भिन्न समाजवादी विचारकों के [illegible] से [illegible] समाज

की उस मानसिक अवस्था में पहुँच गये हैं जिसमें मार्क्स ने समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक कसौटी पर पूरा उतरने योग्य बना दिया। अब हम मार्क्स के विचारों का विश्लेषण, उन्हें अनुभव और तर्क की कसौटी पर परखकर कर सकेंगे। इससे पूर्व कि हम मार्क्स के विचारों की समीक्षा आरम्भ करें, जर्मन समाजवादी रॉडबर्टस के विषय में भी दो शब्द कह देना उचित होगा। रॉडबर्टस एक विचित्र प्रकार का समाजवादी था, जिसे समाजवाद के क्रियात्मक क्षेत्र में समाजवादी कहना भी कठिन है। आन्दोलन या क्रान्ति के विचारों के वह समीप नहीं फटकता है। स्वभाव से बहुत शान्त, पेशे से वकील और ज़मींदार, परिवर्तन की रफ़्तार से घबराने वाला और उत्तरोत्तर विकास का हामी। राजनैतिक क्षेत्र में वह समाजवाद, राष्ट्रीयता और राजसत्तात्मक नीति के एक पंचमेल का समर्थक था। उसका विचार था कि जर्मन सम्राट को ही एक समाजवादी शासक सम्राट का स्थान दिया जाना चाहिए। परन्तु जहाँ तक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का सम्बन्ध था, वह बहुत आगे बढ़ा हुआ था। यहाँ तक कि समाजवादी विचारधारा के अनेक ऐतिहासिक मार्क्स से पहले रॉडबर्टस को ही वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म-दाता बताते हैं।

पदार्थों या सौदे के मूल्य के सम्बन्ध में उसके विचार प्रमुख अर्थशास्त्रज्ञ रिकार्डो ( Ricardo ) और आदम-स्मिथ ( Adam Smith ) की ही तरह थे। उसका विचार था कि पदार्थों या सौदे का मूल्य उसे उत्पन्न करने वाले परिश्रम पर ही निर्भर करता है। परिश्रम के कारण ही इन पदार्थों का मूल्य या दाम निश्चित होता है। भूमि के लगान, व्यवसाय के मुनाफ़े और मज़दूर की मज़दूरी को वह सामाजिक पैदावार का भाग समझता था, जिसे सम्पूर्ण समाज का सम्मिलित परिश्रम पैदा करता है। इसलिये पूँजीपति की अपनी पूँजी के भाग से मज़दूरी या वेतन दिये जाने का कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता।

भूमि या पूँजी आदि पैदावार के साधन-जिन्हें समाज के सम्मिलित परिश्रम ने उत्पन्न किया है-ऐसे पूँजीपतियों और ज़मींदारों के कब्ज़े में रहते हैं, जो स्वयम पैदावार के लिए परिश्रम नहीं करते। यह लोग परिश्रम का भाग अपने उपयोग के लिये रख लेते हैं।

समाज में आर्थिक संकट * आने पर ही मनुष्य का ध्यान अपने समाज की त्रुटियों, उसमें मौजूद विषमताओं की ओर जाता है। इन त्रुटियों को दूर करने के लिये ही मनुष्य इनके कारणों की खोज कर नई आयोजनाओं की फ़िक्र करता है। पूँजीवादी प्रणाली से समाज में पैदावार के साधनों का पर्याप्त विकास होजाने पर लगातार समाज में बने रहने वाले आर्थिक संकट के हल करने के लिये ही समाजवाद का जन्म हुआ। इसलिये आर्थिक संकट के बारे में किसी भी विचारक के विचार इस बात का निश्चय कर सकते हैं कि समाजवाद के प्रति उसका क्या रुख है? इसी दृष्टि से हमें रॉडबर्टस के विचारों को देखना है। रॉडबर्टस कहता है:—"समाज की पैदावार निरन्तर बढ़ती जा रही है परन्तु परिश्रम करने वालों (मज़दूरों) को इस पैदावार में से केवल उतना ही भाग मिलता है, जिसके बिना उनकी प्राण रक्षा नहीं हो सकती—(जितनी वे पैदावार करते हैं उतना नहीं) परन्तु यह परिश्रम करने वाले (मज़दूर) भी उस समाज का एक अंग हैं जो पैदावार को ख़र्च करते हैं। इन लोगों को जब पैदावार का उचित हिस्सा नहीं मिलता तो ख़र्च करने की इनकी शक्ति घट जाती है। इसका अर्थ होता है, समाज जितना पैदा करता है उतना ख़र्च नहीं कर पाता।

परिणाम यह होता है कि पैदावार बिना ख़र्च हुए पड़ी रहती है

---

* आर्थिक संकट से अभिप्राय केवल रुपये-पैसे की कमी नहीं, बल्कि समाज में जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी या उनका ठीक बँटवारा न होना है।

और भविष्य में पैदावार कम करने की कोशिश की जाती है। इस वजह से पैदावार के लिये मेहनत करने वाले लोगों ( मज़दूरों ) को काम से हटा दिया जाता है, वे बेकार होजाते हैं। बेकार होगये लोग आमदनी का कोई साधन न होने के कारण ख़रीद फ़रोख्त भी नहीं कर पाते और समाज में इकट्ठा होगई पैदावार और भी कम ख़र्च होती है। इस प्रकार समाज के आर्थिक संगठन का दायरा तंग होता जाता है। दिन-प्रति-दिन ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है जिनके लिये समाज में स्थान नहीं रहता। पूँजीपतियों के पास अलबत्ता इस तरीके से धन की बड़ी रक़म जमा होजाती है जिसे वे केवल ऐयाशी पर ख़र्च कर सकते हैं। इसलिये समाज में ऐसी अवस्था आने पर मेहनत करने वालों की शक्ति समाज के भूखे-नंगे अंग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये ख़र्च न होकर भोग के पदार्थ तैयार करने में ख़र्च होती है। रॉडबर्टस के इन विचारों को हम आधुनिक समाजवादी विचारधारा से किसी प्रकार भी अलग नहीं कर सकते।

रॉडबर्टस एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान अवसर हो। पैदावार के साधन भूमि और पूँजी सामाजिक सम्पति हों, सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं का अनुमान कर उन्हें पूर्ण करने के लिये पैदावार की जाय। प्रत्येक व्यक्ति शक्ति भर परिश्रम करे और उसे उसके परिश्रम के अनुसार फल मिल जाय। इन विचारों के आधार पर हम राडबर्टस को वैज्ञानिक समाजवादी कहे बिना नहीं रह सकते। दूसरी ओर जब समाजवाद को कार्य-रूप में परिणित करने के लिये कार्य-क्रम का प्रश्न आता है, रॉडबर्टस मज़दूर श्रेणी को राजनीति के झंझट में न पड़ने की सलाह देता है। वह कहता है, यह सब तो स्वाभाविक क्रम से स्वयम् ही होगा परन्तु शनैः शनैः, विकास की राह से, आन्दोलन द्वारा तुरन्त नहीं। और इसके लिये वह प्राय: पाँच सौ वर्ष का समय आवश्यक समझता है।

एक बात—जिसकी ओर समाजवाद के ऐतिहासिकों का ध्यान नहीं गया, वह राडबर्टस के राजनैतिक सिद्धान्त थे। वह एक ओर जर्मनी में राष्ट्रियता और राजसत्ता क़ायम करना चाहता था और दूसरी ओर उसकी प्रवृत्ति समाजवादी थी। इन दोनों विरोधी विचारधाराओं का मेल हो सकता था केवल राष्ट्रीय-समाजवाद (नाज़ीज़्म * ) में। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद राष्ट्रीयता के बन्धनों को स्वीकार नहीं करता। वह व्यक्तियों की ही भाँति राष्ट्रों की प्रतियोगिता को भी मनुष्य समाज के हित के लिये हानिकारक समझता है और समाजवाद में संसारव्यापी एक मनुष्यसमाज की कल्पना करता है। परन्तु रॉडबर्टस के राष्ट्रीय राजसत्तात्मक समाजवाद का अर्थ होता है, एक राष्ट्र (जर्मनी) के भीतर तो समानता और समाजवाद हो परन्तु इस समानता और समाजवाद की सीमा के बाहर जर्मनी दूसरों पर आधिपत्य करे। हिटलर के आधुनिक नाज़ीवाद के बीज हमें रॉडबर्टस की एक अजीब वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा में मिलते हैं।

उन्नीसवीं सदी के मध्य काल की इस सामाजिक अशान्ति और बेचैनी को न तो फ्रांस की मध्य श्रेणी की राज्य क्रान्ति, न इंगलैण्ड का चार्टिस्ट ° आन्दोलन और न जर्मनी में विस्मार्क की राजनैतिक संगठन की शक्ति शांत और संतुष्ट कर सकी। इस समय ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हुई जिनमें कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगल्स ने समाज के सन्मुख मौजूद समानता की भावना, पूँजीवादी प्रणाली की असफलता और समाज के आर्थिक संगठन के बारे में उठती हुई आयोजनाओं को

---

* नाज़ीज़्म का अर्थ है—राष्ट्रीय समाजवाद।

° मज़दूरों द्वारा प्रतिनिधि शासन में वोट की माँग।

लेकर समाजवादी विचारधारा और उसके दार्शनिक पहलू के लिये ठोस वैज्ञानिक नींव की स्थापना की।

मार्क्स—

ट्रेव्स जर्मनी में एक छोटा सा नगर है। वहां ५ मई संन् १८१८ में मार्क्स का जन्म हुआ था। मार्क्स का पूरा नाम था 'कार्ल हेनरिख मार्क्स' (Karl Henerich Marx) मार्क्स का परिवार यहूदी था। राजनैतिक कारणों से उसके पिता ने यहूदी धर्म छोड़ ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया; परन्तु मार्क्स ने इस परिवर्तन से अपने जीवन में कोई लाभ न उठाया। वकील का पुत्र होने के कारण उसे शिक्षा प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिला। उसके स्वभाव में विचारक की गम्भीरता और आन्दोलनकारी की उग्रता दोनों ही मौजूद थीं। इसलिये जहाँ उसे समाजवादी विचारों को वैज्ञानिक रूप देने में सफलता मिली, वहाँ पीड़ितों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नींव भी वह डाल गया। मार्क्स का अध्ययन बहुत गंभीर था। उसने दर्शन शास्त्र की अनेक विचारधाराओं का भी गूढ़ अध्ययन किया और स्वयम् भी उसने यूनिवर्सिटी से दर्शनशास्त्र के आचार्य की पदवी प्राप्त की। उसका विचार था, यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर बनने का। उसके उग्र विचारों के कारण यह पद उसे न मिल सका और वह अप्रत्यक्ष रूप से न केवल विचारों की क्रान्ति बल्कि क्रियात्मक क्रान्ति के मार्ग पर चल निकला।

सन् १८४२ में जर्मनी से स्वतंत्र विचार के लोगों ने एक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया। मार्क्स भी इस कार्य में सम्मिलित हुआ। कुछ ही मास में उसे इस पत्र का सम्पादक बना दिया। उसे अपने अध्ययन का अवसर न मिलता इसलिये उसने इसे छोड़ दिया। सन् १८४३ में एक सम्पन्न परिवार की लड़की 'जेनी' से उसका प्रेम

हो गया। अपने स्वतंत्र विचारों के लिये जर्मनी में गुंजाइश न देख, जेनी से विवाह कर वह पेरिस चला गया और वहाँ 'फ्रैंको-जर्मन-अब्द-कोश' ( Eranco German Year Book ) के सम्पादन में जा लगा।

इस अब्दकोश में अनेक क्रान्तिकारी विचारकों के लेख प्रकाशित होते थे और उसी नाते सन् १८४४ में एक दूसरे जर्मन विद्वान 'फ्रेड-रिक ऐंगल्स' (Eriedrich Engels) से उसका परिचय हो गया। इस परिचय के बाद से इन दोनों विद्वानो की मैत्री मार्क्स की मृत्यु तक बनी रही। दोनों ने मिलकर, समाजवाद की वैज्ञानिक नींव कायम करने और पीड़ितों ( मज़दूर-किसानों ) के अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन को चलाने के लिये अनेक ग्रन्थ लिखे। दोनों विद्वान् गम्भीर विषयों पर एक साथ विचार करते थे। और इनकी पुस्तकों पर नाम भी प्रायः दोनों का एक साथ रहता था। अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण मार्क्स को जीवन में कभी चैन न मिला। एक के बाद एक—जर्मनी, फ्रांस, वेलजियम आदि सभी देशों से वह निकाल दिया गया। आयु के पिछले चौंतीस बरस उसने इंगलैण्ड में ही बिताये, जहाँ उसका काम था संसार के सबसे बड़े पुस्तकालय ब्रिटिश म्यूज़ियम में बैठकर अध्ययन करना और लिखना।

मार्क्स के दो प्रधान मित्रों या सहायकों ऐंगल्स और कुक्स की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। वे प्रायः मार्क्स को आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। मार्क्स स्वयम कभी अपने गुज़ारे के लिये पर्याप्त धन नहीं कमा सका। जब उसे उसके लेखों या पुस्तकों की लिखाई में रुपये मिल जाते, वह रुपया फूँकना शुरू कर देता। उस समय अच्छा खाना, शराब और सिगार खूब उड़ता। कुछ ही दिन में यह रुपया समाप्त कर मार्क्स भूखे पेट ही अपनी पुस्तकें लिखने बैठता और ऐसी भी अवस्था अनेक बार आई कि ब्रिटिश-म्यूज़ियम के पुस्तकालय में

मार्क्स अपनी पुस्तकों लिये नोट लिखते समय भूख और कमज़ोरी के कारण बेहोश होकर कुर्सी से लुढ़क गया और लोगों ने आकर उसे उठाया। उसकी लड़की बीमार होगई परन्तु पैसा पास में न होने के कारण कोई इलाज न कराया जा सका और वह मर गई। इन सब संकटों का प्रभाव मार्क्स पर न पड़ा हो सो बात नहीं, उसका स्वभाव नितान्त चिड़चिड़ा होगया। बात-बात पर वह अपनी पत्नी जेनी से झगड़ पड़ता परन्तु जेनी सब सह जाती। वह मार्क्स के चिड़चिड़ेपन का कारण समझती थी और उसे यह भी विश्वास था कि उसका परिवार चाहे जो मुसीबतें भुगते, परन्तु मार्क्स जिस महान कार्य की नींव डाल रहा है, वह एक दिन संसार के पीड़ितों के दुःख को दूर कर देगा।

ब्रुसेल्स में रहते समय मार्क्स अपने मित्रों सहित कम्यूनिस्ट संघ (लीग आफ़ कम्यूनिस्ट) में शामिल होगया। कम्यूनिस्ट संघ की पहली कानफ्रेंस के समय एक घोषणापत्र (कम्यूनिस्ट मैनीफ़ेस्टो) प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, जिसे लिखने का भार सौंपा गया मार्क्स और एंगिल्स को। यह घोषणा सन् १८४८ के फरवरी मास में प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिकों का मत है कि समाज की अवस्था और उसके विचारों पर जितना गहरा प्रभाव इस पुस्तक ने डाला, उतना प्रभाव इधर दो-तीन सौ वर्ष में और कोई पुस्तक उत्पन्न नहीं कर सकी। कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो को मार्क्सवाद का सूत्ररूप कहा जा सकता है। कम्यूनिस्ट मैनीफ़ेस्टो को 'समाजवादी—मैनीफ़ेस्टो' (Socialist Menifesto) न कह कर कम्यूनिस्ट मैनीफ़ेस्टो क्यों कहा गया, इस प्रश्न के उत्तर में एंगल्स कहता है—"समाजवाद शब्द का प्रयोग अनेक बे सिर पैर की हवाई आयोजनाओं के लिये हुआ है। परोपकार की भावना द्वारा मज़दूरों की अवस्था सुधारने के ऐसे सैकड़ों प्रयत्नों से भी इस शब्द का सम्बन्ध रहा है, जो एक ओर तो मज़दूरों

का कल्याण करने की फ़िक्र करती है और दूसरी ओर पूँजी तथा उसके मुनाफ़े को भी सुरक्षित रखे रहना चाहते हैं।"

कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो फ़रवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ। फ्रांस की की तीसरी राज्यक्रान्ति पर जिसे समाजवादी राज्यक्रान्ति का नाम भी दिया जाता है कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा। इस राज्यक्रान्ति में क्रान्तिकारियों ने पेरिस में एक समाजवादी सरकार 'पेरिस-कम्यून' के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की थी। यह सरकार स्थापित हो भी गई परन्तु उस समय तक इस सरकार के स्थापन करनेवालों का संगठन और अनुभव इतना न था कि इस काम को सफलता पूर्वक निभा ले जाते।

मार्क्स के इस मेनीफ़ेस्टो का प्रभाव संसार भर के मज़दूर आन्दोलन पर पड़ा और मज़दूरों के आन्दोलन ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। इस मेनीफ़ेस्टो के बाद मज़दूरों में एक नई भावना, जिसे मार्क्स 'श्रेणि चेतना' ( Class consciousness ) का नाम देता है, पैदा हो गई। श्रेणि चेतना को हम मार्क्सवाद के क्रियात्मक रूप का बीज कह सकते हैं।

मार्क्स इंगलैण्ड में रहते समय लगातार मज़दूरों के आन्दोलनों में भाग लेता रहा और अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन कर उसने अर्थशास्त्र की एक नयी पद्धति कायम कर दी जिसे हम पूँजीवादी अर्थशास्त्र के मुकाबिले में 'वर्गवादी' या समष्टिवादी ( Communist ) अर्थशास्त्र कह सकते हैं। इस अर्थशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य-समाज के इतिहास का रूप और दृष्टिकोण ही बिलकुल बदल जाता है।

मार्क्स का जीवन अपने सिद्धान्तों के लिये संघर्ष का जीवन था; परन्तु इस पुस्तक का विषय मार्क्स का जीवन न होकर मार्क्स के सिद्धान्त या कहिये समाजशास्त्र में मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रभाव है, इसीलिये हम मार्क्स के जीवन के विषय में अधिक न कह सकेंगे।

मार्क्स के उग्र सिद्धान्तों को देखकर मार्क्स के प्रति एक कठोर प्रकृति का मनुष्य होने की कल्पना होना स्वाभाविक है। परन्तु मार्क्स की यह उग्रता और कठोरता उसके वैयक्तिक जीवन में सहृदयता और कोमलता के रूप में प्रकट होती थी। अपनी सन्तान और स्त्री के प्रति उसके हृदय में अगाध स्नेह था। सन् १८८१ में उसकी स्त्री का देहान्त हो जाने पर वह इतना निराश हो गया कि अपनी स्त्री की कब्र में कूदने का यत्न करने लगा। मार्क्स की स्त्री के देहान्त के समय एंगल्स ने कहा था—'मार्क्स मर गया'।

इसके पश्चात् भी मार्क्स शराब के गिलास और सिगार के धुएं में अर्थशास्त्र पर अपनी पुस्तक 'पूँजी' 'कैपीटल' ( Das Capital ) को पूरा करने का यत्न करता रहा। परन्तु उसे इसमें सफलता न मिली और १४ मार्च सन् १८८४ में मार्क्स इस संसार से कूच कर गया। मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् एंगिल्स ने 'पूँजी' ( Das Capital ) के तीसरे भाग को समाप्त कर छपवा दिया। मार्क्स की यह पुस्तक मार्क्सवाद या कम्यूनिज़्म ( Communism ) की आधारशिला है।

---

# मार्क्सवाद

इस पुस्तक का नाम सिद्धान्त के नाम पर समाजवाद न रख व्यक्ति के नाम पर मार्क्सवाद रखा गया है। इसका कारण मार्क्स के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा के फूल चढ़ाना नहीं बल्कि अपने आंपको ऐतिहासिक भूल से बचाना है। राबर्ट, लूईब्लॉ, लास्साल और राडबर्टस के विचारों को हम समाजवाद के रूप में पेश कर चुके हैं परन्तु मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विचारधारा इन विचारकों की विचारधारा से स्पष्ट रूप से भिन्न है। यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है। उसे ऐतिहासिक रूप से पुरानी विचारधारा के साथ मिला देना भूल होगी। मार्क्स द्वारा संशोधित समाजवाद को, जिसके सिद्धान्तों के लिये विज्ञान की पूर्णता का दावा किया जाता है, काल्पनिक समाजवाद से नहीं मिलाया जा सकता। मार्क्स का सहयोगी समाजवादी विद्वान एंगल्स स्वयम् इस विषय पर प्रकाश डालता है :—

"......मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि मार्क्स के साथ चालीस वर्ष तक इकट्ठे काम करने से पहले और बाद में भी मैंने स्वतंत्र रूप से आर्थिक सिद्धान्तों की खोज का काम किया है, परन्तु हम लोगों के विचारों का अधिकांश भाग, विशेष कर जहाँ अर्थशास्त्र, इतिहास और क्रियात्मक व्यवहार के आधार-भूत सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, श्रेय मार्क्स को ही है। इसलिये इन विचारों और सिद्धान्तों का सम्बन्ध भी उसी के नाम से होना चाहिये......।"

मार्क्सवाद क्या है, समाजवाद और मार्क्सवाद में क्या अन्तर है, इस बात को ऊपर के उद्धरण स्पष्ट कर देते हैं। अर्थशास्त्र और राजनीति का प्रसिद्ध रूसी विद्वान लियोन्तेव इस भेद को और भी स्पष्ट कर देता है :—

"……मार्क्सवाद ही पहला प्रयत्न था, जिसने मनुष्य समाज के विकास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने का यत्न किया। मार्क्स ने भावुक सुधारकों के समाजवादी हवाई हमलों को गिराकर वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियाद डाली। पूँजीवादी वैज्ञानिक समाज के विकास के नियमों को कभी स्पष्ट नहीं कर सके। वे मनुष्य के इतिहास को केवल घटनाओं की एक शृंखला मात्र समझते रहे। मार्क्स ने मनुष्य समाज के इतिहास की घटनाओं को कार्यकारण की शृंखला में जोड़ दिया। उसने बताया, प्रकृति की तरह मनुष्य समाज के विकास और परिवर्तन के भी नियम हैं। उसने बताया, मनुष्य समाज का रूप और संगठन किसी बाह्यशक्ति से नहीं बल्कि परिस्थिति और स्वयम मनुष्य समाज के विचारों, निश्चयों और कार्यों से होता है और आगे भी समाज का रूप आवश्यकता अनुसार बदला जा सकता है। मार्क्स ने यह भी बताया कि पूँजीवादी प्रणाली अपने विकास से समाज में इस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा कर देती है, जो स्वयम् पूँजीवाद का आगे चलना असम्भव कर देती हैं और पूँजीवाद समाज को विकास के नहीं, विनाश के मार्ग पर धकेलने लगता है। इसके साथ ही मार्क्सवाद इस ओर भी ध्यान दिलाता है कि समाजवादी-प्रजातंत्रवादियों* (Social Democrats) के विचार के अनुसार पूँजीवादी शासनप्रणाली स्वयम ही निश्फल होकर समाजवाद को स्थान नहीं दे देगी बल्कि उसके लिये समाज की शोषित श्रेणियों का संगठित प्रयत्न आवश्यक है। मार्क्सवाद के अनुसार समाज के विकास और परिवर्तन के नियम मनुष्य के प्रयत्न बिना स्वतंत्र रूप से काम नहीं करते। समाज की श्रेणियों (Classes) के परस्पर संघर्ष के रूप में यह नियम सफल होते हैं……।"

---

* मार्क्सवाद समाजवादी-प्रजातंत्र शासन का विरोधी नहीं है। विरोध है केवल उन लोगों से, जो समाजवादी प्रजातंत्र दल बनाकर क्रान्तिकारी समाजवादियों से भेद रखते हैं।

## मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आधार—

मार्क्सवाद में विवेचना का आधार इतिहास है। मनुष्य समाज के शनैः विकास को ले वह अपने सिद्धान्त निश्चित करता है। मनुष्य समाज के इतिहास को वह आर्थिक और भौतिक दृष्टिकोण से देखता है। इतिहास को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने का अर्थ है, मनुष्य समाज के इतिहास को जीवन संघर्ष के रूप में देखने का यत्न करना। इसे और भी सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है—मनुष्य किस प्रकार अपनी जीविका प्राप्त करता है, जीवन रक्षा करता है, यही बात उसके रहन सहन के ढंग को निश्चित करती है। मनुष्य के जीविका उपार्जन करने और जीवन रक्षा के ढंग के बदलने से समाज का रूप बदल जाता है। किसी व्यक्ति या श्रेणी का समाज में क्या स्थान है, इसका निश्चय इस बात से होता है कि सम्पूर्ण समाज के जीविका पैदा करने के क्रम में इस व्यक्ति या श्रेणी का क्या भाग और अधिकार है। समाज किस प्रकार संगठित है या उसे किस प्रकार बाँटा जा सकता है, यह देखना हो तो हम समाज को व्यक्तियों में नहीं बल्कि श्रेणियों में संगठित पायेंगे। समाज में पैदावार की दृष्टि से यह श्रेणियाँ अपना-अपना स्थान रखती हैं। इन श्रेणियों में पैदावार के फल या पैदावार के साधनों पर अधिकार करने के लिये जो संघर्ष चलता है, वही मनुष्य समाज का इतिहास है, वही मनुष्य-समाज के विकास का मार्ग है। मार्क्स का कहना है कि विकास के मार्ग में अड़चन अवश्य आती है और विरोध पैदा होने पर एक नयी व्यवस्था तैयार होती है। नयी व्यवस्था मनुष्य-समाज के विकास को आगे बढ़ने का अवसर देती है। समाज के विकास के मार्ग में आने वाली अड़चनें और उससे उत्पन्न होने वाले नयी व्यवस्था का उदाहरण हम इतिहास में इस प्रकार देख सकते हैं—

मनुष्य समाज ने धन, धान्य और सम्पत्ति इकट्ठी कर अपनी

सभ्यता की उन्नति आरम्भ की। समाज की सम्पन्न श्रेणी ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये उसने दूसरों को ग़ुलाम बनाकर पैदावार के हथियारों के तौर पर व्यवहार करना शुरू किया। इससे मनुष्य समाज में पैदावार की गति में बढ़ती हो सभ्यता का विकास हुआ। ग़ुलामों द्वारा पैदा की गई सम्पत्ति से मनुष्य समाज ने वे पदार्थ तैयार किये, जिन्हें एक मनुष्य की शक्ति तैयार न कर सकती थी। उदाहरणतः— सैकड़ों मील लम्बी सड़कें, नहरें, मिश्र के पिरामिड, यूनान के मन्दिर और भारत की विशाल इमारतें। ग़ुलाम आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करने में लगे रहते थे और संपत्तिशाली विद्वान -संगीत, साहित्य और ज्योतिष की चर्चा किया करते थे। ग़ुलामों के परिश्रम के आधार पर समाज की सम्पत्ति और ज्ञान का विकास हुआ। समय आया कि कला कौशल का विस्तार होंने से कारखाने खुलने लगे। मशीनों से एक आदमी बीसियों की शक्ति का काम करने लगा। ऐसी अवस्था में ग़ुलामों की संख्या उनके मालिकों के सिर पर बोझ होगई। क्योंकि मालिक लोग मशीन की सहायता से एक ही आदमी से बीस आदमियों का काम करा सकते थे; बीस ग़ुलामों को अपनी सम्पत्ति बनाकर उनका पेट भरने की क्या ज़रूरत थी। दूसरी ओर उद्योग-धन्दों से पैदावार करने के लिये जिन लोगों ने कारखाने खोले उन्हें मज़दूरी पर काम करनेवाले न मिलते। क्योकि मालिकों के ग़ुलाम अपने मालिकों को छोड़कर कहीं न जा सकते थे और जागीरदारों की रैयत भी उस समय अपने मालिकों की बस्ती छोड़ मज़दूरी के लिये दूसरी जगह न जा सकती थी। ग़ुलामी की प्रथा जो एक समय समृद्धि और सभ्यता की उन्नति के लिये सहायक थी; अब न केवल बोझ बन गई बल्कि पैदावार की वृद्धि, समृद्धि और सभ्यता की बढ़ती की राह में अड़चन बन गई। इसलिये ग़ुलामी की प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चला। ग़ुलामी को मनुष्य-समाज का कलंक बताकर मिटा दिया गया। सब मनुष्यों

को स्वतंत्र कर एक समान बनाया गया और उन्हें अपने परिश्रम से जीविका उपार्जन करने की स्वतंत्रता दी गई। यह एक नयी व्यवस्था ( Synthesis ) थी जो समाज में गुलामी की प्रथा ( Thesis ) द्वारा होते हुए विकास की राह अड़चन ( Antithesis ) आने पर पैदा हुई* ।

समाज के आर्थिक संगठन में जीविका उपार्जन करने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धान्त पर जो विकास आरम्भ हुआ उसका रूप था, पूँजीपति व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक व्यवसाय चला सके। उत्पत्ति के साधन जिन व्यक्तियों के हाथ में नहीं, वे भी जीविकाउपार्जन करने में स्वतंत्र हैं, इसलिये वे अपने निर्वाह के लिये मज़दूरी या वेतन पा सकें, काम करें। यह लोग स्वतंत्ररूप से पहले से मज़दूरी और वेतन पाकर अधिक खर्च करने लगे, उससे पूँजीपति व्यवसाइयों को पैदावार बढ़ाने का और अवसर मिला। पैदावार बढ़ाने के लिये मशीनों के और आविष्कार हुए। व्यवसाय फैलने से मुनाफ़ा अधिक हुआ और उससे अधिक बड़ी-बड़ी मिलें खुलने लगीं। मज़दूरों की संख्या बढ़ती गई और दूसरी ओर मशीनरी का व्यवहार बढ़ता गया।

ऐसी अवस्था आई कि मशीनों की सहायता से दस आदमी सौ मज़दूरों का काम करने लगे; इससे मज़दूर फालतू बचने लगे। मज़दूर बचने से पूँजीपतियों को यह मौका मिला कि मज़दूरी उन मज़दूरों को दें जो कम-से-कम लेकर अधिक-से-अधिक काम करें। इसके साथ ही ऐसी मशीनों का उपयोग करें, जिनमें कम-से-कम मज़दूरों को काम पर

* अमेरिका की उत्तरी और दक्षिणी रियासतों में दास प्रथा को दूर करने के लिये जो युद्ध हुआ वह इस बात का अच्छा उदाहरण है। अमेरिका के दक्षिणी भाग उस उस समय कृषि प्रधान थे, उन्हें गुलामों की ज़रूरत थी और उत्तरी भाग उद्योग प्रधान हो रहे थे जहाँ स्वतंत्र मज़दूरों की ज़रूरत थी।

लगाना पड़े ; ताकि मुनाफ़ा अधिक हो। परिणाम यह हुआ कि एक बहुत बड़ी संख्या बेकार लोगों की होगई जिनके पास पैदावार के साधन नहीं और न वे कोई काम ही पा सकते हैं। क्योंकि मज़दूरों की संख्या उससे अधिक हो गई है, जितनों की ज़रूरत है। मशीन के आविष्कार की वजह से पैदावार के काम में पहले से कम मज़दूरों की ज़रूरत होने लगी, इससे मज़दूरी भी कम आदमियों को मिलने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में ख़रीद-फ़रोख़्त करनेवालों की संख्या कम होने लगी। बढ़ते हुए आविष्कार और बढ़ती हुई बेकारी से समाज में पैदावार अधिक और खपत कम होने लगी। पैदावार को कम करने के लिये और अधिक आदमियों को बेकार करना पड़ा। परिणाम में ख़रीदनेवालों की तादाद और भी कम होंगई। इस प्रकार आर्थिक संकट का एक भँवर पैदा हो जाता है जिसमें पैदावार कम करने के लिये लोगों को काम से अलग कर बेकार किया जाता है और यह बेकार हुए लोग समाज में खपत को घटा कर पैदावार को और भी कम करने के लिये मज़बूर करते हैं जिससे बेकारी और अधिक बढ़ती है।

लेकिन यह व्यवस्था आरम्भ हुई थी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से मुनाफ़ा कमाने की स्वतंत्रता और अपने परिश्रम को बेचने की स्वतंत्रता के न्यायपूर्ण सिद्धान्त पर। इससे समाज में पैदावार के बढ़ने में खूब सहायता मिली परन्तु अब ऐसी अवस्था आगई है कि मुनाफ़ा कमाने की स्वतंत्रता पैदावार को घटा रही है और बेकारी को बढ़ा रही है। समाज के विकास में अड़चन आगई है और यह अड़चन मुनाफ़ा कमाने के आधार पर चलने वाली पूँजीवादी प्रणाली ने अपने मार्ग में स्वयम उत्पन्न कर ली है। इसलिये अब एक नयी व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हो रही है। मार्क्सवाद समाज के इतिहास को इसी रूप में देखता है। मार्क्सवाद इतिहास की ( Thesis ) प्रतिवाद ( Antithesis ) और समन्वय ( Synthesis ) अर्थात् एक स्थिति के

आरम्भ होकर बढ़ने, और उसमें विरोध उत्पन्न होकर नया समन्वय होते रहने के क्रम में ही देखता है।

भौतिकवाद—

किसी समाज के संगठन में उस समय की विचारधारा का विशेष महत्व रहता है। हम ऊपर कह आये हैं, मनुष्य की परिस्थितियाँ और उसके निर्वाह के ढंग उसके विचारों को एक ख़ास तरीक़े पर ढाल देते हैं। विचारों की यह प्रवृत्ति, समाज की कल्पना, उसकी दृष्टि में उचित-अनुचित और विचारों पर प्रभाव डाल कर उसके आदर्श और कार्यक्रम को निश्चित करती है। समाज के लिये क्या उचित-अनुचित और सम्भव-असम्भव है, इस निर्णय में समाज का दर्शन या विचार क्रम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता है।

मनुष्य और समाज के मार्ग का निश्चय उसके विचार करते हैं या परिस्थितियाँ, यह महत्वपूर्ण प्रश्न दार्शनिकों को बहुत समय तक परेशान करता रहा है। जो लोग मनुष्य और उसके समाज को संसार से परे एक शक्ति, ब्रह्म या खुदा की रचना समझते हैं, उनकी दृष्टि में इस संसार का क्रम एक निश्चित वस्तु है। इसमें मनुष्य की शक्ति भगवान की इच्छा के बिना उलटफेर नहीं कर सकती। मनुष्य की इच्छा और बुद्धि भी, इन लोगों के विचार में, भगवान् की प्रेरणा के ही अनुकूल होती है। ऐसे लोगों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण संसार मिथ्या-भ्रम और नष्ट हो जाने वाला है। सत्य है, केवल भगवान्। संसार से बन्धन छुड़ाकर उस ब्रह्म को प्राप्त करना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। संसार में अपनी अवस्था सुधारने का यत्न करना उनकी दृष्टि में अपने आपको भ्रम में डालना है। इस दृष्टि से मनुष्य की सम्पूर्ण उन्नति, अवनति, सफलता, अपसलता का उत्तरदायित्व भगवान पर रहता है; मनुष्य और उसका समाज स्वयं कुछ नहीं है। संसार का इतिहास इस आध्यात्मिक विचारधारा का समर्थन नहीं करता।

इसलिये मनुष्य ने गूढ़ चिन्तन द्वारा अपने सामर्थ्य और शक्ति का अनुमान किया। इस उद्देश्य से मनुष्य समाज ने जिस विचारक्रम या तर्क का विकास किया; वही उसका दर्शनशास्त्र है।

मार्क्सवाद का दर्शन आध्यात्मिकता के ठीक विपरीत है। वह मनुष्य के प्रकृति पर विजय प्राप्त कर अपने समाज का कार्यक्रम और मार्ग निश्चय कर सकने में विश्वास रखता है। वह संसार की रचना और विकास का आधार प्रकृति को मानता है। प्रकृति के अलावा किसी आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में वह विश्वास नहीं रखता, न उसकी ज़रूरत ही देखता है। मनुष्य और प्राणियों में मौजूद जीव और चेतन शक्ति को वह प्राकृतिक जगत से भिन्न या बाहर की चीज़ नहीं समझता और न मनुष्य जीवन का उद्देश्य, मृत्यु के बाद इस संसार से परे ब्रह्म या किसी अन्य अवस्था को प्राप्त करना मानता है। वह इस संसार को भ्रम या ब्रह्म की लीला नही मानता। मार्क्सवाद की दृष्टि में प्रकृति और संसार सत्य और वास्तविक हैं। इस प्रकृति को इन्द्रियों* द्वारा समझा और अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकृति में ही गति और चेतन (Motion and Consciousness) का विकास होता है।

मनुष्य में चेतना (Consciousness) की रचना यदि प्रकृति से भिन्न की किसी परिपूर्ण शक्ति द्वारा की जाती तो यह चेतना सदा से एक सी होनी चाहिये थी। परन्तु जीव-विज्ञान (Biology) और शरीर-विज्ञान (Physiology) में डार्विन (Darwin) और हैकल (Haeckel) द्वारा की गई खोज के आधार पर मार्क्सवाद यह निश्चय करता है कि मनुष्य की चेतना का, जिसे आध्यात्मवादी आत्मा कहते हैं, विकास क्रमशः हुआ है।

---

* इन्द्रियों द्वारा से अभिप्राय इन्द्रियों और मनुष्य द्वारा तैयार किये गये यंत्रों से भी है।

मनुष्य का विकास प्रकृति के रूप रहित (Formless) और गति-हीन (Motionless) पदार्थों से हुआ है। यह पदार्थ आरम्भ में अनुभवहीन और अचेतन थे। इन भौतिक (Matter) पदार्थों के विशेष परिस्थितियों में आने से उनमें ऐसे भौतिक और रासायनिक परिवर्तन (Physico-chemical changes) आये जिससे उनमें दूसरे पदार्थों को अपने अंदर हज़्म करके स्वयं बढ़ने का गुण आ गया। यह एक क्रिया है इस अवस्था में प्राणियों का शरीर कुहासे के रूप में एक झिलमिल आकृतिहीन (Nebula) अवस्था में था। दूसरे पदार्थों को हज़्म कर स्वयम् बढ़ने का गुण आजाने से इनमें क्रिया और अनुभव बहुत सूक्ष्म रूप में पैदा होजाता है ; परन्तु इन जीव युक्त पदार्थों में गति न होने इनकी इच्छा और अनुभव का ज्ञान स्थूल दृष्टि को नहीं हो सकता।

आध्यात्मवादी जीवों के शरीर की उत्पत्ति तो प्रकृति से स्वीकार करते हैं ; परन्तु मनुष्य में मौजूद चेतना और विचार को स्थूल प्रकृति का गुण नहीं मानते। प्रकृति में चेतना न पाकर वे मनुष्य की चेतना को अप्राकृतिक शक्ति ब्रह्म या खुदा का अंग, या देन समझते हैं। मार्क्सवाद इच्छा और चेतना को भी मनुष्य के मस्तिष्क का कार्य समझता है। मनुष्य के मस्तिष्क के तन्तुओं की क्रिया से ही इच्छा और चेतना पैदा होती है। मनुष्य का मस्तिष्क प्राकृतिक पदार्थों से ही बनता है ; इसलिये मस्तिष्क द्वारा होनेवाला कार्य भी प्रकृति की ही क्रिया है।

आध्यात्मवादी मनुष्य की इच्छा, विचार और कार्यों में अन्तर समझते हैं। इच्छा और विचारों को वह आत्मा ( ईश्वरीय अंग ) की क्रिया समझते हैं और प्रत्यक्ष कार्यों को शरीर की क्रिया समझते हैं। मार्क्सवाद और विज्ञान इनमें इस प्रकार का भेद नहीं समझता। हाथ से लकड़ी को पकड़ना एक क्रिया है। हमें इस क्रिया का केवल

वही भाग दिखाई देता है जो प्रत्यक्ष है—अर्थात् हाथ का हिलना। परन्तु यह क्रिया आरम्भ होती है मस्तिष्क के तन्तुओं से जहाँ पहले इच्छा या विचार पैदा होता है।

मनुष्य का मस्तिष्क स्वयम प्रत्यक्ष क्रिया नहीं कर सकता। वह स्नायुओं द्वारा अंगों को गति देकर क्रिया करता है। मस्तिष्क की क्रिया, विचार और इच्छा अप्रत्यक्ष रहते हैं। इच्छा या विचार पैदा होने से लेकर लकड़ी को पकड़ लेने तक यह क्रिया का एक क्रम है। जो मनुष्य के शरीर की बनावट के कारण कई भागों में बँट जाती है। मस्तिष्क हमारे शरीर का है आफिस है ; जहाँ से सभी क्रियाओं का आरम्भ होता है। क्योंकि मस्तिष्क और दूसरी इन्द्रियाँ अलग-अलग अंग हैं, उनमें प्रत्यक्ष भेद दिखाई देता है इसलिये इनके द्वारा की गई क्रियाएँ भी अलग-अलग जान पड़ती हैं। विचार और चेतना भी भौतिक या शारीरिक क्रिया है।

जिन मनुष्यों का मस्तिष्क जितना कम विकसित होता है वे उतना ही कम सोचते हैं। इसे हम यों नहीं कह सकते कि कम विकसित मस्तिष्क में कम आत्मा होती है। जिन जीवों के शरीर का विकास निचली अवस्था में होता है, उनमें मस्तिष्क का विकास भी कम होता है। जीवों को हम विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में देख पाते हैं। मनुष्यों के शरीर में अनेक अंग और उपअंग हैं, जैसे हाथ पैर, उनकी उँगलियाँ आदि। पशुओं के इससे कम अंग होते हैं और कुछ जीवों में नाक, आँख और मुँह के सिवा कुछ नहीं होता। शरीर में अंग जितने कम होंगे, मस्तिष्क का सम्बन्ध अंगों से उतना ही निकट का होगा। जीव-विज्ञान की खोज से यह पता चलता है कि जीवों की उस अवस्था में जब कि अंगों का विकास नहीं हो पाता और उनका शरीर केवल गोल-मटोल पोटली सा रहता है। उस समय उनका मस्तिष्क शरीर के किसी खास भाग में एकत्र न होकर सम्पूर्ण शरीर की तह पर छाया

रहता है। अपने शरीर की त्वचा से वह जो कोई काम करते हैं; उसमें तथा विचार में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार यदि मनुष्य का मस्तिष्क भी उसके हाथ पैर में होता तो उसकी चेतना और इच्छा मनुष्य शरीर से होने वाली क्रिया से कोई पृथक वस्तु न जान पड़ती। मार्क्सवाद कहता है, मनुष्य की चेतना और इच्छा-शक्ति का विकास होता है परिस्थितियों और जीवन की आवश्यकताओं से और वह शरीर का अंग और कार्य है। इस शरीर से परे ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य शरीर के समाप्त हो जाने के बाद भी फिरसे जीवन धारण करने के लिये शेष रह जाय या संक्षेप में जिसे आध्यात्मवादियों के शब्दों में आत्मा कहा जा सके।

शरीर के विकास की आरम्भिक अवस्था में बहुत सूक्ष्म रूप से जीवन की रक्षा और उसे बढ़ाने के प्रयत्नों के लिये आकृतिरहित शरीर में गति का यत्न होने लगा। इस प्रयत्न के लिये, स्फुरण के कारण इस शरीर में इधर उधर विशेष वृद्धि होने लगी। बाद में यह बढ़े हुए भाग, शरीर के अंग बन गये। अंग बन जाने पर, शरीर अपनी बदलती परिस्थितियों में बदलता हुआ विकास पाने लगा। जीवों की अनेक अवस्थाओं से गुज़रता हुआ, अनेक रूप धारण करता हुआ जिनमें से कुछ जल में उगने वाले वनस्पति * बने, कुछ स्थल पर उगने वाले वनस्पति, कुछ जल में रहने वाले जीव और कुछ स्थल पर रहने वाले; कुछ पक्षी बने, कुछ रेंगने वाले। इन रेंगने वाले जीवों में विकास हुआ तो उनके छोटे पैर निकल आये। ‡ इस प्रकार अनेक शाखा-प्रशाखा होकर जीव चौपायों के रूप में आये और बाद में बन्दर, बन-मानुष की योनि पार करते हुए आखिर मनुष्य का रूप धारण किया। मनुष्य भी विकास के अनेक दर्जों में पाये जाते हैं। जैसे बिलकुल

---

* जीव का उद्भव पहले जल में ही हुआ।

‡ साँप के पैर नहीं होते; कनखजूरे के होते हैं।

नंगे रहकर कच्चा भोजन खाते हैं; कुछ असभ्य हैं और कुछ सभ्य।

जब मनुष्य नाम का यह प्राणी लाखों वर्षों में इन योनियों से गुजरा, उसकी चेतना (Consciousness) बुद्धि और आत्मा (Soul) आज जैसी अवस्था में न थी। उसका शनैः शनैः विकास हुआ है और इस विकास में उसकी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। किसी अलौकिक, संसार से बाहर की शक्ति का प्रभाव मनुष्य की चेतना, बुद्धि या आत्मा * पर नहीं पाता। परिस्थितियों के जो प्रभाव चेतना, बुद्धि, और आत्मा का विकास कर सकते हैं, वे उसकी सृष्टि भी कर सकते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद का दर्शनशास्त्र नितान्त रूप से भौतिकवाद (Materialism) की नींव पर क़ायम है।

## मार्क्सवाद और आध्यातम—

कुछ आध्यातमवादी मार्क्सवाद के अर्थशास्त्र संबंन्धी सिद्धान्तों और कार्यक्रम में तो विश्वास करते हैं परन्तु मार्क्सवाद के दर्शन—भौतिकवाद, अनातमवाद और निरीश्वरवाद में विश्वास नहीं करते। मार्क्सवाद इस प्रकार के दुरंगे ढंग को अवैज्ञानिक समझता है। इसके दो कारण हैं—प्रथम, जब आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व विज्ञान और तर्क द्वारा सिद्ध नहीं होता तो उसका आश्रय क्यों लिया जाय? यह कहना कि आत्मा और ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं, अनुभव का विषय है, मार्क्सवादियों की दृष्टि में केवल अन्धविश्वास है। अनुभव इन्द्रियों के द्वारा ही होता है फिर इन्द्रियाँ विज्ञान की सहायता से आत्मा और परमात्मा का निश्चय क्यों नहीं कर पातीं। मार्क्सवाद की नज़र में आत्मा-परमात्मा भूत-प्रेत और काल्पनिक वस्तुओं की तरह ही विश्वास की वस्तु है।

---

* आध्यातमवादी आत्मा को चेतना और बुद्धि से पृथक वस्तु मानते हैं परन्तु विज्ञान की खोज में चेतना और बुद्धि से परे कोई वस्तु नहीं। मार्क्सवाद आत्मा के विश्वास को केवल मनुष्य का अभ्यास या संस्कार समझते हैं।

आध्यात्मवादियों का कहना है कि आत्मा-परमात्मा पर विश्वास रखने से मनुष्य अपने सामने एक महान और ऊँचे आदर्श को रखकर महान् शक्ति का आश्रय पा सकता है और विकास कर सकता है। मार्क्सवाद कहता है, जो शक्ति वास्तव में है ही नहीं, वह मनुष्य को किस प्रकार ऊँचा उठा सकती है और आश्रय दे सकती है। उससे मिलनेवाला आश्रय केवल मिथ्या विश्वास होगा। दूसरी उपयोगिता आत्मापरमात्मा पर विश्वास की समझी जाती है, यह विश्वास मनुष्य को धर्म और न्याय के मार्ग पर रखता है। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुसार धर्म, कर्तव्य और न्याय परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। परन्तु आध्यात्मवादियों के विचार में आत्मा परमात्मा कभी नहीं बदलते; इनके द्वारा निर्देशित धर्म और न्याय भी नहीं बदलता। इसलिये परिवर्तन के मार्ग पर चलते हुए समाज को आध्यात्मिकता सदा पीछे की ओर घसीटती है। अपनी इस बात की पुष्टि में मार्क्सवादी इतिहास द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्म विश्वास ने सदा ही नवीन विचारों का विरोध कर प्राचीन शासन, विश्वास और पद्धति की सहायता की है। कारण:—धर्म का सम्बन्ध सदा ही अतीत काल की परिस्थितियों से रहा है।

आत्मा परमात्मा पर विश्वास ( आध्यात्मिकता ) को विज्ञान और तर्क की कसौटी पर पूरा न उतरते पाकर भी अनेक विचार मनुष्य को नेकी की राह पर चलाने के लिये उन्हें उपयोगी समझते हैं। इस प्रकार के विचारों को फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक वोल्टेयर ने यों स्पष्ट कहा है—"यदि परमेश्वर नहीं है तो हमें स्वयं परमेश्वर गढ़ लेना चाहिए क्योंकि उसका भय मनुष्य को उचित मार्ग पर चलाने में सहायक होता है।"

मार्क्सवाद इस प्रकार के काल्पनिक भय में लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक देखता है। उसका कहना है कि काल्पनिक भगवान् के

भय से यदि मनुष्य को न्याय के मार्ग पर चलाया जा सकता है तो काल्पनिक भय के आधार पर मनुष्य को यह भी समझाया जा सकता है कि समाज की सम्पन्न और मालिक श्रेणियों को भगवान् ने ग़रीबों और साधनहीनों पर शासन करने के लिये और ग़रीबों को शासक श्रेणियों की सेवा करने के लिये ही बनाया है और इस क़ायदे को उलटना भगवान की इच्छा या आज्ञा के विरुद्ध है और पाप है। इतिहास इस बात का गवाह है कि आध्यात्मिकता ने सदा से यह उपदेश दिया है कि भगवान की इच्छा और न्याय से समाज में मालिक नौकर और राजा प्रजा का विधान बना है और नौकर और प्रजा को चाहिए कि मालिक और राजा को अपना पिता स्वामी और रक्षक मानकर उसकी सेवा और आज्ञा का पालन करें। राजा और मालिक के प्रति विद्रोह करना सदा पाप और ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध बताया गया। यदि मनुष्य-समाज भगवान् की आज्ञा को स्वीकार कर अपनी अवस्था से सन्तुष्ट रहकर, अपनी अवस्था में परिवर्तन करने की चेष्टा न करता तो मनुष्य-समाज का न कभी विकास होता और न कुछ उन्नति।

आध्यामित्कता का रूप बदलता रहा है और उसे मनुष्य के मस्तिष्क ने ही पैदा किया है*। ऐसी अवस्था में मनुष्य के मस्तिष्क को आध्यात्मिकता का दास बना देना इतिहास के साथ अत्याचार करना—सत्य को छिपाना और मनुष्य की शक्ति और विकास पर बनावटी प्रतिबन्ध लगाना है। आध्यात्मिकता और धर्म विश्वास

---

* इतिहास बताता है, मनुष्य पहले वृक्षों, पहाड़ों और नदियों की पूजा करता था, अनेक जतियाँ अब भी ऐसा करती हैं। इसके बाद वह अनेक देवताओं की पूजा करने लगा और उसके बाद एक निराकार निर्गुण भगवान की। ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ा। उसके ------ के गुण भी बढ़ने और बदलने लगे।

मनुष्य की कई पीढ़ी पहले के ज्ञान और अनुभव की उपज है। आज जब समाज कहीं अधिक ज्ञान अनुभव प्राप्त कर चुका है, पीढ़ियों पूर्व के बंधन उस पर लादना मार्क्सवाद की दृष्टि में मनुष्य द्वारा की गई उन्नति को अस्वीकार करना और उसे पीछे ले जाना है।

आध्यात्मिकता के सहारे ऊँचे आदर्श को प्राप्त करने की चेष्टा भी मार्क्सवाद की दृष्टि में ठीक नहीं; क्योंकि अपने ऊपर सदा एक बड़ी शक्ति का विश्वास, जो मनुष्य की सफलता असफलता की मालिक है, जिसके सामने मनुष्य को अपनी बुद्धि और शक्ति की तुच्छता स्वीकार करनी ही चाहिये, मनुष्य के आत्मविश्वास, महात्वाकांक्षा और उन्नति की सम्भावना पर रोक लगा देता है। मार्क्सवाद मनुष्य की उन्नति की कोई सीमा स्वीकार नहीं करता और न किसी लक्ष्य को अन्तिम आदर्श स्वीकार करता है। वह विश्वास करता है, मनुष्य और उसका समाज उन्नति कर जिस अवस्था को पहुँच जाता है वहां से आगे उन्नति करने का नया मार्ग आरम्भ हो जाता है।

आध्यात्मवादी मनुष्य की आत्मा * को शरीर से परे एक सूक्ष्म वस्तु समझते हैं जो प्रकृति से परे, कभी नष्ट न होने वाली शक्ति का अंग है। मार्क्सवाद मनुष्य की बुद्धि, चेतना या मन को भौतिक पदार्थों (Matter) से बना मानता है, जिसकी प्रवृत्ति और गति समाज के संस्कारों के अनुसार होती है। इससे पृथक आत्मा का अस्तित्व वे स्वीकार नहीं करते। दर्शनशास्त्र के अध्ययन और चिन्तन का प्रयोजन मार्क्सवादियों की दृष्टि में सिर्फ यह जानना ही नहीं कि मनुष्य और संसार की स्थिति क्या है, बल्कि यह भी है कि उसके लिये सबसे अधिक लाभदायक मार्ग कौन है?

* आध्यात्मवादी आत्मा और मन को भी पृथक पृथक समझते हैं। मन उनके विचार में प्रलोभन और अनुचित मार्ग की ओर जाता है और आत्मा उसका नियंत्रण करता है।

## इतिहास का आर्थिक आधार—
## (Economic interpretation of History)

मार्क्सवाद के अनुसार प्राणियों के जीवन में सबसे अधिक महत्व है जीवन रक्षा के प्रयत्नों का। मनुष्य भी इस नियम से बरी नहीं। मनुष्य और उसके समाज का सम्पूर्ण व्यवहार जीवन रक्षा के प्रयत्नों से ही निश्चित होता है। जीवन निर्वाह के संगठित काम को पूरा करने के लिये समाज में व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न काम करने पड़ते हैं। एक तरह से जीविका पाने वाले व्यक्ति एक सी अवस्था में रहते हैं। उनकी स्थिति में समानता आ जाती है, उनके हित एक से हो जाते हैं और यह लोग एक श्रेणी (Class) का रूप धारण कर लेते हैं। सम्पूर्ण समाज पैदावार करने के कार्य में अपने भाग, सम्बन्ध और कार्य के विचार से श्रेणियों में बँट जाता है।

पैदावार के काम में सब समाज की सब श्रेणियाँ भाग लेती हैं परन्तु इन श्रेणियों के हित आपस में एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं। अर्थात् सब श्रेणियाँ समान रूप से परिश्रम नहीं करतीं और समाज के परिश्रम से प्राप्त हुए पदार्थ भी सब श्रेणियों को समान रूप से नहीं मिलते। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कुछ श्रेणियाँ दूसरी श्रेणियों के परिश्रम से लाभ उठाती है। ऐसी अवस्था में समाज की इन श्रेणियों में संघर्ष पैदा जाता है। समाज के दायरे में मौजूद इन श्रेणियों का परस्पर संघर्ष ही मनुष्य समाज में परिवर्तनों का इतिहास है। यह संघर्ष ही मनुष्य समाज को नये विधानों की ओर ले जाता है और समय-समय पर समाज के रूप को बदलता रहता है। समाज में श्रेणियों की उत्पत्ति का कारण रहता है मनुष्य का आर्थिक अर्थात् मनुष्य का अपने जीव की रक्षा, पोषण और वृद्धि का प्रयत्न ; इसलिये मार्क्सवाद मनुष्य के इतिहास को आर्थिक नींव पर क़ायम देखता है।

समाज के इतिहास का आधार आर्थिक है, इसका अर्थ यह नहीं

कि मनुष्य जो कुछ करता है वह धन या द्रव्य की प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है या केवल धन-द्रव्य ही व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर प्रभाव डालता है धन और द्रव्य का महत्व मनुष्य की दृष्टि में इस लिये है कि वह सामाजिक परिस्थितियों के कारण जीवन निर्वाह का साधन है। मार्क्सवाद जब कहता है कि इतिहास का आधार 'आर्थिक' है, तो तात्पर्य होता है, इतिहास का आधार जीवन के लिये संघर्ष है। जीवन में संघर्ष होता है, जीवन के उपायों के लिये। जीवन के उपायों को ही 'अर्थ' कहते हैं। जीवन के उपायो में वे सब वस्तुयें आ जाती हैं जिनसे मनुष्य समाज को संतोष और तृप्ति चाहे शारीरिक हो या मानसिक। इसलिये जीवन में मनुष्य या समाज जो कुछ भी करता है, वह सब 'अर्थ' के लिये, या जीवन की रक्षा और विकास के लिये।

अर्थ शब्द को जब हम संकुचित मायने में लेते हैं तो इसका मतलब धन-द्रव्य या जीवन चलाने के उपाय हो जाता है। अर्थ का यह मायना मान लेने से अनेक शंकाये की जा सकती हैं। कहा जायगा—मनुष्य वासना में अन्धा होकर या प्रेम की भावना से सब कुछ बलिदान कर देता है। हम मनुष्यों को शौक के लिये बहुत कष्ट उठाते देखते हैं और बहुत खर्च करते भी देखते हैं। हम न्याय के लिये भी मनुष्यों को अपनी जान तक कुर्बान करते देखते हैं, क्या इन सब बातों का आधार आर्थिक है ?

मार्क्सवाद इन सब बातो का आधार आर्थिक ही समझता है। वासना या प्रेम के लिये कुछ देना या कुर्बान करना अपने संतोष और तृप्ति के लिये ही है। मनुष्य चाहे अपने परिश्रम से कमाया धन देदे या अपनी जान देदे, सब कुछ अपने संतोष के लिये ही। संतोष और और तृप्ति चाहे वह शरीर की, मन की या विश्वास की हो; एक ही बात है।

रोज़मर्रा और बोलचाल की भाषा में स्वार्थ शब्द खुदगर्ज़ी, दूसरे

के हानि लाभ की परवाह न कर अपना ही भला करने के अर्थ में आता है। परन्तु अर्थशास्त्र और मार्क्सवाद की चर्चा में स्वार्थ शब्द का अर्थ होता है जीवन की रक्षा और उन्नति के उपाय। मार्क्सवाद अपने कार्यक्रम में एक व्यक्ति को नहीं बल्कि समाज के सब व्यक्तियों के हित को महत्व देता है इसलिये मार्क्सवाद में स्वार्थ का अभिप्राय श्रेणी या समाज का हित होता है। जब हम कहते हैं कि व्यक्ति और श्रेणी का व्यवहार स्वार्थ की भावना से निश्चित होता है, तो स्वार्थ का अभिप्राय व्यक्ति से न होकर श्रेणी और समाज से ही रहता है। इस कारण मार्क्सवाद कहता है—न्याय और परोपकार में भी स्वार्थ की भावना रहती है। जब मनुष्य समाज में न्याय के लिये प्रयत्न करता है या त्याग करता है, तो उसका अभिप्राय होता है कि मनुष्य समाज में व्यवस्था क़ायम रहे। मनुष्य की विवेक बुद्धि, दूरदर्शिता और आत्मरक्षा की भावना यह जानती है कि समाज में व्यवस्था और तरीक़ा न रहने से समाज का नाश हो जायगा और उस नाश से व्यक्ति भी न बच सकेगा। समाज की रक्षा में ही व्यक्ति की रक्षा है, इस बात को सभी चतुर और बुद्धिमान व्यक्ति समझते हैं। वे अपने क्षणिक स्वार्थ की अपेक्षा समाज के स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देते हैं, क्योंकि उसी से उनका अपना और उनके परिवार का भला है; जिसके बिना उनका जीवन नहीं चल सकता। अपने संकुचित हित की चिन्ता वे ही लोग करते हैं जिनका मस्तिष्क पूर्णरूप से विकसित नहीं होता। जंगल के जीवों में भी हम देखते हैं कि बुद्धि के विचार से उच्च कोटि के जीवों में सामाजिकता का भाव अधिक पाया जाता है और निचले दर्जे के जीवों में कम।

न्याय की भावना की नींव भी, स्वार्थ पर क़ायम रहती है, इस बात को समझना हो तो हमें यह देखना होगा कि भिन्न-भिन्न समाजों और समयों में न्याय का रूप क्या रहा है? प्राचीन भारत में शूद्रों का विद्या

रखना अन्याय था। भारत में एक पुरुष का दो पत्नियाँ रखना न्याय है परन्तु योरुप में यह अन्याय है। प्राचीन काल में एक आदमी को ख़रीद कर सारी आयु उससे पशु की तरह काम लेना न्याय था परन्तु आज ऐसा करना अन्याय है। प्राचीन भारत में विधवा का सती हो जाना महापुण्य था परन्तु आज वह अपराध है। न्याय क्या है? इस बात का निर्णय रहता है उन लोगों के फ़ैसले पर जो व्यवस्था कायम करते है, जिनके हाथ में शक्ति रहती है। समाज में शक्ति उन लोगों के हाथ में रहती है, जिनकी इच्छा के मुताबिक दूसरों को अपना जीवन निर्वाह करना पड़े या जिस श्रेणी के हाथ पैदावार के साधन हों। पैदावार के साधनों की मालिक श्रेणी या शासक श्रेणी कहते हैं—सदा इस बात का निश्चय करती है कि न्याय और अन्याय क्या है। जिस क़ायदे या क़ानून से इस श्रेणी के हितों की रक्षा हो, इनके हाथ में शक्ति बनी रहे, उसी तरीके और क़ायदे पर वे समाज को चलाना चाहते हैं और उसी क़ायदे और तरीके को वे अपने विचार में न्याय समझते हैं।

पूँजीवादी समाज में न्याय अन्याय का निश्चय पूँजीपति श्रेणी और उसके सहायक करते हैं। ऐसे समाज में पूँजी और सम्पत्ति पर मालिक के अधिकार की रक्षा करना जरूरी हो जाता है। पूँजीवादी समाज में किसी व्यक्ति की पूँजी और सम्पत्ति को छीनना बड़ा भारी अपराध है। इसके साथ ही इस समाज में मुनाफा कमाकर पूँजी को बढ़ाने का अधिकार होना भी ज़रूरी है। इसलिये व्यक्ति को अधिकार है कि कम मूल्य में सौदा ख़रीदकर ख़ूब अधिक मूल्य में बेच सके, किसी व्यक्ति को नौकर रखकर उससे सौ रुपये का काम कराकर उसे पचास रुपये या कम तनख्वाह दे सके। ऐसे समाज में क़ानून बनाने के लिये प्रतिनिधि चुनने का अधिकार भी उन लोगों को दिया जाता है जिनके पास कुछ सम्पत्ति हो, जो काफ़ी लगान या टैक्स देते

हों *। इसके विरुद्ध रूस जैसे देश में जहाँ पूँजीवादी प्रणाली नहीं है, क़ानून बनाने वाले प्रतिनिधि चुनने के लिये राय देने के अधिकार पर कोई रोक नहीं। हर एक आदमी जो बालिग़ हो, राय दे सकता है। रूस में किसी व्यक्ति द्वारा मुनाफ़ा कमाकर पूँजीपति बन जाना और पूँजी के बल से दूसरों से मेहनत कराकर उस मेहनत का भाग स्वयं रखकर मेहनत करने वाले को उसकी मेहनत का मूल्य कम देना, चोरी या अपराध समझा जाता है। ऐसा करने वाले आदमी को जेल की सज़ा मिलती है। पूँजीवादी देशों में पूँजीपति श्रेणी के हित की बात न्याय है; रूस में मेहनत करने वालों के हित की बात न्याय है। जब मनुष्य समाज मुख्यतः खेती की उपज पर निर्वाह करता था, उस समय भूमि के मालिकों, सरदारों और जागीरदारों के स्वार्थ के अनुसार न्याय की धारणा निश्चित होती थी ; उस समय राजा और सरदार ही राज्य करते थे। पूंजीवादी प्रजातंत्र में सम्पत्तिशाली भद्रसमाज शासन करता है।

मार्क्सवाद के अनुसार आर्थिक परिस्थितियाँ और आर्थिक उद्देश्य से किये जाने वाले प्रयत्न समाज के संगठन, विचारों और शासन का रूप निश्चित करते हैं। पूँजीवादी प्रणाली या प्राचीन विचारों में विश्वास रखने वाले अनेक ऐतिहासिक आर्थिक दृष्टिकोण को समाज के विकास और इतिहास का आधार मानने में एतराज़ करते हैं। उनका कहना है, आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों को ही मनुष्यों के सब कार्यों का आधार मान लेने से मनुष्य के स्वतंत्रतापूर्वक अपने भरोसे पर काम करने का अवसर कहीं नहीं रह जाता। मार्क्सवाद आर्थिक परिस्थितियों को भाग्य की बात नहीं समझता। आर्थिक परिस्थितियों के कारण पैदा हो जाने वाली अड़चनों को दूर करने के लिये मनुष्य

---

* भारत के शासन विधान में प्रान्तीय असेम्बलियों के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार केवल १०% जनता को है।

जो विचार और कार्य करता है, मार्क्सवादी उसे भी आर्थिक परिस्थितियों का ही अंग समझते हैं।

सरकार—

विद्वान अफ्लातूँ (Plato) ने राजनीति के विषय में लिखा है—"मनुष्यों की प्रकृति जिन सिद्धान्तों के अनुसार काम करती है, उन्हीं सिद्धान्तों पर उसकी राजनीति क़ायम होती है।" राजनीति की यह व्याख्या बहुत व्यापक है। इससे किसी भी सिद्धान्त का समर्थन किया जा सकता है। मनुष्य जंगली अवस्था में हो या सभ्य अवस्था में, उसके समाज में किसी न किसी रूप में शासन अवश्य मौजूद रहता है। समाज में शासन सदा रहना चाहिए या नहीं, इस विषय में मतभेद है। अराजकतावादी* (Anarchists) लोग कहते हैं—शासन का कोई भी रूप हो वह मनुष्य की स्वतंत्रता पर बन्धन है और उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जो विचारक शासन की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, वे भी इस विषय में मतभेद रखते हैं कि शासन का रूप क्या होना चाहिये। शासन का उद्देश्य है—सम्पूर्ण समाज का कल्याण और उसके विकास के लिये अवसर देना। इस विषय में सभी लोग सहमत हैं, परन्तु सम्पूर्ण समाज का कल्याण किस प्रकार हो सकता है, इस विषय में सिद्धान्तों और विचारों के अनुसार मतभेद रहता है।

समाज में शासन के अनेक रूप अनेक समयों में दिखाई पड़ते हैं। मार्क्सवाद के विचार में, शासन का रूप और प्रकार समाज में मौजूद उत्पत्ति के साधनों और श्रेणियों के आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर

* अराजकता से अभिप्राय गड़बड़ नहीं परन्तु सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में एक विचारधारा से है, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को मुख्य स्थान दिया जाता है।

होता है। हमें मार्क्सवाद के सिद्धांतों की दूसरे सिद्धांतों से तुलना करनी है इसलिये कुछ चर्चा दूसरे सिद्धान्तों की भी करना ठीक होगा।

सरकार के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक सिद्धांतों—राजसत्ता (Monarchy) अमीरशाही (Aristocracy) प्रजातंत्र (Republic) के बारे में यह कहना कि कौन पहले समाज में आया और कौन बाद में कठिन है। इतिहास में कहीं राजसत्ता के प्रजातंत्रबाद और कहीं प्रजातंत्र के बाद रजसत्ता और फिर प्रजातंत्र के रूप में उदाहरण मिलते हैं। मार्क्सवाद का विचार है कि आर्थिक परिस्थितियाँ और श्रेणियों के आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर यह रूप बदलते रहते हैं।

राजसत्ता का सिद्धान्त "राजा भगवान द्वारा दिये हुए अधिकार से मनुष्यों पर शासन करता है," ( Devine Right of Kings ) बहुत पुराना सिद्धान्त है। भारतीय शास्त्रों में भी इसका वर्णन है और दूसरे देशों में भी इसका प्रचार रहा है। परंतु विकासवाद * के सिद्धांत के सन्मुख यह सिद्धांत टिक न सका। राजा या सरदार को प्रजा पर शासन का अधिकार भगवान देते हैं, इस सिद्धांत का बोलबाला उसी समय तक रहा, जब तक समाज मुख्यतः खेती पर ही निर्भर करता था और भूमि के मालिक राजा और सरदारों के हाथ में ही शक्ति थी।

व्यापार और कला-कौशल के युग में जब पुरानी व्यवस्था बदलने की आवश्यकता हुई, मनुष्य की समानता के अधिकारों का चर्चा हुआ और प्रजातंत्र के सिद्धांत बने। इस युग से लेकर आज तक अनेक सिद्धांत सरकार के बारे में हमारे सामने आये। जिस श्रेणी के हाथ मे राज्य शक्ति ( सरकार ) आजाती है वह अपने मतलब को सिद्ध करने के लिये राजनैतिक शक्ति के संबंध में सिद्धांत भी बना लेती है। जिस काल में योरुप में राजनैतिक शक्ति

---

* मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नति करता है और यह उन्नति उसके सामाजिक संगठनों और सरकार के संगठन में भी होती है।

राजाओं, सामन्तों, सरदारों के हाथ से निकलकर व्यापारियों और मध्यम श्रेणी के लोगों के हाथ में आई, उसे न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिये प्रजातंत्रवादियों ने सामाजिक समझौतों के सिद्धांत ( Theory of Social Contract ) का आविष्कार किया। योरुप में इस सिद्धांत का आविष्कार करनेवाला पहला विद्वान 'जीन जेक्विस रूसू' ( Jean Jaques Rousseou ) फ्रांसीसी था, रूसू अपने समय का प्रबल क्रांतिकारी था। उसे हम राजसत्ता और सामन्तशाही के विरुद्ध क्रान्ति का जन्मदाता कह सकते हैं।

सामाजिक समझौते का सिद्धांत है कि 'समाज में अशान्ति, छीना-झपटी से तंग आकर मनुष्यों ने सभी लोगों के कल्याण के विचार से यह समझौता कर लिया कि वे एक व्यवस्था क़ायम करलें जिसमें सबके अधिकार समान हों, कोई किसी पर ज़्यादती न करे'। रूसू और उनके अनुयायी प्रजातंत्रवादियों के मत में सरकार का जन्म इस प्रकार के समझौते से हुआ। यह विचार मध्यकालीन प्रजातंत्र भावना का आधार था। इस सिद्धांत का प्रयोजन समाज को यह समझाना था कि सरकार समाज के कल्याण के लिये एक आवश्यक संस्था है। जिसे समाज ने स्वयम् पैदा किया है और स्वयम् उसके हाथ में शक्ति दी है; इसलिये सरकार की आज्ञा का पालन करना भी उसका कर्तव्य है। इसके साथ इस सिद्धांत में यह भावना भी छिपी थी कि समाज को अपनी सरकार का रूप निश्चित करने का अधिकार है।

यों तो इतिहास में प्रजातंत्र भावना का ज़िक्र ईसा के जन्म से पहले यूनान के प्रजातंत्र नागरिक शासन ( Republican city States of Greece ) में भी आता है। मनुस्मृति में भी सामाजिक समझौते का ज़िक्र इस रूप में है—'पहले मनुष्यों में मत्स्यन्याय' था। मनुष्य आपस में एक दूसरे को मारपीट, छीन-झपट कर निर्वाह चलाते थे। समाज में [illegible] का और भय था। मनुष्यों ने आपस में समझौता कर

व्यवस्था क़ायम की और मनु को राजा बनाया। परन्तु उस समय के प्रजातंत्र को हम यदि अमीरशाही कहें तो ठीक होगा क्योंकि शासन कार्य में केवल नागरिक लोग भाग ले सकते थे, गुलाम नहीं और गुलामों की संख्या कभी-कभी नागरिकों से बहुत अधिक होती थी।

प्रजातंत्र और मनुष्य की समानता के विचारों ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और लगभग उसी समम इंगलैण्ड में होने वाले राजनैतिक सुधार पर गहरा प्रभाव डाला। इसके पश्चात् राज्यशक्ति के सम्बन्ध में विचारों का विकास बहुत तेज़ी से हुआ। इन विचारों में जर्मन हेगेल (Hegel) का विशेष स्थान है। रूसू और जर्मन विद्वान् काण्ट (Kant) के सिद्धांतों के विरुद्ध हेगेल समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाज की स्वाभाविक गति (Laissez faire) का समर्थन न कर राष्ट्र को व्यक्ति से ऊपर स्थान देकर राज्यशक्ति या सरकार को मनुष्य के चरम विकास और उन्नति का साधन बताता है। वह कहता है, कि राष्ट्र और समाज राज्यशक्ति ( सरकार ) के संगठन के सहारे ही सशक्त होकर मनुष्य और उसके समाज के विकास और उन्नति के उद्देश्य को पूर्ण कर सकता है। इसलिये राज्य शक्ति ( सरकार ) व्यक्ति से बहुत ऊपर है। हेगेल के इन विचारों की तह में हमें उन्नीसवीं सदी के अंत में योरुपीय राष्ट्रों की साम्राज्य कामना और परस्पर स्पर्धा और विरोध का प्रभाव दिखाई देता है। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में वही राष्ट्र सबसे अधिक सफल हो सकते थे, जो युद्ध के लिये दूसरों की अपेक्षा अधिक तैयार होते।

हेगेल की यह विचारधारा ( फिलासफ़ी ) जर्मनी को संघर्ष के लिये तैयार कर रही थी। जर्मनी औद्योगिक रूप से उन्नत हो चुका था परन्तु उपनिवेश न पाकर तड़फ रहा था। इसलिये जर्मनी के पूँजी-वादियों के विचार राष्ट्रीय संघर्ष के लिये तैयारी के रूप में प्रकट हो रहे थे। जर्मनी में औद्योगिक विकास उस समय ख़ूब पक चुका था।

इंगलैण्ड और योरुप के सभी देशों में उस समय यही अवस्था थी। एक ओर पूँजीपति श्रेणियाँ अपने देशों में अपने माल की खपत का अधिक अवसर न देखकर विदेश के बाज़ार और उपनिवेशों के लिये तड़प रहे थे दूसरी ओर इन देशों के मज़दूरों का शोषण सीमा पर पहुँच चुका था। मज़दूर बड़ी संख्या में औद्योगिक नगरों और केन्द्रों में एकत्र होकर संगठित हो रहे थे, उन्हें अपनी अवस्था और शक्ति का ज्ञान हो रहा था।

मज़दूर शासन—

मार्क्स ने देखा यद्यपि पैदावार के साधन पूँजीपतियों के हाथ में हैं परन्तु समाज के पैदावार के काम में भाग लेने वाली मज़दूर श्रेणी अपनी संख्या के कारण, समाज का बहुत बड़ा भाग होने के नाते सबसे बलवान है। इस श्रेणी की अवस्था भी ऐसी हो रही है कि उसे सहन करना उनके लिये सम्भव नहीं। मार्क्स ने देखा, पूँजीवाद के विकास में ऐसी अवस्था आगई है कि आगे विकास के लिये अधिक अवकाश नहीं, वह समाज को संतुष्ट नहीं रख सकता। समाज में साधन होते हुये भी अधिकांश की आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पातीं। इसलिये समय आगया है कि पैदावार को मुनाफ़े के उद्देश्य से न किया जाकर समाज की आवश्यकता को पूर्ण करने के उद्देश्य से किया जाय। पैदावार का उद्देश्य बदलने के लिये यह ज़रूरी है कि पैदावार के इन साधनों को पूँजिपति श्रेणी के हाथ से लेकर पैदावार के लिये परिश्रम करनेवाली मज़दूर श्रेणी के हाथ में दिया जाय और शासन की बाग-डोर भी इस श्रेणी के हाथ में हो। तभी पैदावार का उद्देश्य मुनाफ़े से बदलकर समाज की ज़रूरत पूरा करना हो सकेगा।

मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से इतिहास में पैदावार के साधनों की स्वामी श्रेणी सदा शासन शक्ति को अपने हाथ में ले लेने में समर्थ रही है। इस शक्ति से वह पैदावार के साधनों पर अपना कब्ज़ा दृढ़

करती आई है। पैदावार के साधनों पर अधिकार रखने के लिये ही भिन्न-भिन्न समयों में अनेक श्रेणियाँ अलग-अलग ढंग की न्याय व्यवस्था और क़ायदे, क़ानून कायम करती आई है। इसलिये मज़दूर श्रेणी का स्वामित्व पैदावार के साधनों पर क़ायम करने के लिये उनके हाथ में शासनशक्ति होना ज़रूरी है। मज़दूरों का शासन ठीक ढंग से क़ायम करने के लिये परिवर्तन काल में कुछ समय तक मज़दूरों का निर्बाध शासन * (Dictatorship of Proletariat) क़ायम करना ज़रूरी है। मजदूरों का निर्बाध शासन मार्क्सवाद का उद्देश्य नहीं। यह ऐसी शासन व्यवस्था क़ायम करने का साधन है जिसमें किसी भी श्रेणी का शासन दूसरी श्रेणी पर न हो और कोई श्रेणी का शोषण न कर सके।

शोषण रहित अवस्था समाज में तभी सम्भव है जब समाज में श्रेणियों का अन्त हो जाय। आर्थिक दृष्टिकोण से इतिहास का अध्ययन करने पर हम देख पाते हैं कि बिलकुल आदि अवस्था के सिवा, जबकि मनुष्य समाज में सम्पत्ति के आधार पर श्रेणियाँ नहीं बनी थीं, सदा ही बलवान श्रेणी द्वारा निर्बल श्रेणियों का शोषण होता रहा है। सरकार और शासन सदा बलवान श्रेणी के हाथ का हथियार बनकर शोषण के साधन का काम करते रहे हैं।

राज्य करने के दैवी-अधिकार और राज्यशक्ति की स्थापना के लिये प्रजातंत्रवादियों के सामाजिक समझौते पर मार्क्सवाद विश्वास नहीं करता। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त न तो इतिहास की दृष्टि से प्रमाणित हो सकता है न तर्क की दृष्टि से। सामाजिक समझौता केवल उसी समाज में सम्भव है, जिस समाज में निर्बल और बलवान श्रेणियाँ न हों, सभी लोग एक सी अवस्था में हों। जब समाज में

---

* निर्बाध या निरंकुश शासन—ऐसा शासन है जिस पर कोई रोक टोक न हो। Dictatorship.

कुछ लोग किन्ही कारणों से अधिक बलवान हो जाते हैं और शेष लोग निर्बल, तब बलवान लोगों की आशा और इच्छा और निर्बलों की पराधीनता ही समझौता होगा। इसे समझौता न कहकर बलवान श्रेणी का शासन कहना ही मार्क्सवाद की दृष्टि में अधिक उचित जँचता है। यदि समाज में श्रेणियाँ हैं तो उनके बनने का कारण उनकी आर्थिक असमानता के सिवा और क्या हो सकता है और जब आर्थिक असमानता है, तब फिर समझौते से समानता के व्यवहार की बात केवल मिथ्या विश्वास है।

शासन क़ायम करने के लिये शासक के हाथ में शक्ति होना आवश्यक है और वह शक्ति भी ऐसी, जिसका कि समाज में कोई दूसरी संगठित ताक़त मुक़ाबिला न कर सके। इस प्रकार की शक्ति समाज की सबल श्रेणी के अलावा और किसके पास हो सकती है! निर्बलों या शोषितों के पास यह शक्ति नहीं हो सकती। शासन का उद्देश्य रहता है, समाज में जैसी व्यवस्था बन गई, उसे क़ायम रखना। कायम अवस्था की रक्षा का प्रयत्न वे ही लोग या श्रेणी करेंगी, जिनका कि कायम व्यवस्था वा अवस्था में हित सिद्ध होता रहेगा। यदि किसी व्यवस्था या अवस्था में सभी लोगों का हित पूरा हो सके तो स्वयम ही शांति कायम रहेगी।

शासन का अर्थ यही है कि शासक श्रेणी को इस बात का निरंतर भय है कि जिस व्यवस्था को उन्होंने कायम किया है, उसे तोड़ देने का यत्न किया जा रहा है या किया जा सकता है। शासक या बलवान श्रेणी जिस श्रेणी का शोषणकर उसकी बग़ावत का भय शासक श्रेणी को सदा बना रहता है। इसलिये शोषक या शासक श्रेणी नियम और व्यवस्था को ऐसा रूप देती है कि शोषितों के निकल भागने की गुँजाइश न रहे। मार्क्सवाद की दृष्टि में शासन शोषण का मुख्य साधन है।

मार्क्सवाद समाज के लिये ऐसे शासन को आदर्श समझता है, जिसमें किसी भी श्रेणी का शोषण न हो सके। शोषण केवल उसी श्रेणी का हो सकता है जो परिश्रम द्वारा पैदावार करती है। यदि शासन परिश्रम करने वाली श्रेणी का ही हो तो वह श्रेणी किसी दूसरी श्रेणी का शोषण न करेगी जो कुछ उत्पन्न नहीं करता उससे कुछ छीना नहीं जा सकता। इसी विचार से मार्क्सवाद शोषण का अन्त कर, समानता स्थापित करने के लिये मज़दूर श्रेणी का शासन समाज में होना आवश्यक समझता है।

मार्क्सवाद में मज़दूर से अभिप्राय केवल हल, फावड़ा चलाने वाले लोगों से ही नहीं बल्कि वे सब लोग मज़दूर श्रेणी में आ जाते हैं जो अपने परिश्रम की कमाई से अपना निर्वाह करते हैं चाहे वे किसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हों। इस श्रेणी में किसान, मज़दूर, क्लर्क अध्यापक, नाटक के पात्र गायक, चित्रकार, इंजीनियर, लेखक, डाक्टर यहाँ तक कि मिलों के मैनेजर आदि सभी पेशे के लोग आजाते हैं, जो समाज के लिये कोई काम करते हैं। मज़दूर श्रेणी में केवल वे ही लोग नहीं आते जो इस प्रकार के कार्य करते हैं जिनमें वे दूसरों से काम कराकर अपना मुनाफ़ा बचाते हों। इस प्रकार मुनाफ़ा बचाने के कार्य के प्रबन्ध में चाहे कितना ही कठोर परिश्रम किया जाय, मार्क्सवाद की दृष्टि में वह दूसरों का शोषण ही कहलायगा। इस प्रकार के परिश्रम की तुलना उस चोर या डाकू के परिश्रम से की जा सकती है जो अंधेरी रात में अत्यन्त कष्ट और खतरा सिर पर लेकर दूसरों का घर लूटने जाता है। मार्क्स-वाद के अनुसार प्रजातंत्र में इस प्रकार के लोगों, ज़मीन्दार और पूँजीपतियों या पूँजी के हिस्सेदारों को नागरिक अधिकार नहीं दिये जा सकते।

## मज़दूर तानाशाही—

निरंकुश शासन के लिये आजकल बोलचाल की भाषा में ताना-

शाही शब्द का व्यवहार होता है। तानाशाही की शक्ति किस श्रेणी के हाथ में है, इस विचार से तानाशाही का प्रयोग और प्रभाव होगा। यदि तानाशाही शक्ति शोषक श्रेणी के हाथ में है तो इसका अर्थ होगा, शोषितों का भयंकर दमन और उन्हें अपनी आवाज़ उठाने का अवसर न होना। यदि तानाशाही की शक्ति शोषित श्रेणी के हाथ आ जाती है तो इसका मतलब होगा, उस श्रेणी का शोषण समाप्त हो गया है और उनका कठोर नियंत्रण इस ढंग का है कि शोषण करने वाली शक्तियों को—जिनके हाथ से सरकार की शक्ति मज़दूर श्रेणी ने छीन ली है, अब किसी प्रकार भी शक्ति प्राप्त करने का अवसर नहीं रहा। हम ऊपर कह आये हैं, मार्क्सवाद किसी भी प्रकार की तानाशाही का समर्थन नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं कि रूस में सन् १९१७ की किसान-मज़दूर क्रान्ति के नेता लेनिन* ने मज़दूरों की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) का समर्थन किया और उस समय स्थापित रूस के समाजवादी शासन-विधान को अभिमान-पूर्वक मज़दूरों के निरंकुश शासन का नाम दिया।

लेनिन का कहना था, पूँजीपतियों के शासन को हटाकर हम समाजवाद स्थापित कर रहे हैं। यद्यपि हमने पूँजीपतियों के हाथ से शक्ति छीन कर मज़दूरों की सरकार स्थापित कर दी है परन्तु अभी मज़दूर सरकार की नींव मजबूत नहीं हो पाई है। पूँजीपति और ज़मींदार श्रेणियाँ और दूसरे वे लोग जो पूँजीवादी शासन काल में अधिकार और सम्पत्ति के प्रयोग का सुख भोगते रहे हैं, समाजवाद के विदेशी शत्रुओं की सहायता से हमारी मज़दूर सरकार को असफल कर देने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिये जब तक हमारी 'मज़दूरों की सरकार' की नींव दृढ़ नहीं हो जाती, हमें अपने पूँजीवादी शत्रुओं पर विशेष कड़ी नज़र रखनी होगी और मज़दूरों का निरंकुश शासन स्थापित करना होगा। जब हम समाज-

* लेनिन को मार्क्सवाद का सबसे बड़ा ज्ञाता समझा जाता है।

वाद की स्थापना पूँर्ण रूप से कर लेंगे, इस निरंकुशता ( तानाशाही ) की आवश्यकता न रहेगी। लेनिन के इस कथन के अनुसार १९३७ में रूस में 'प्रतिनिधि-प्रजातंत्र' की स्थापना कर दी गई।

तानाशाही एक अप्रिय शब्द है परन्तु अवस्था विशेष में इसका प्रयोग उतना अप्रिय नहीं भी हो सकता है। तानाशाही या किसी भी सरकार में दमन, ज़ुल्म या अत्याचार उन्हीं लोगों पर किया जाता है, जो लोग क़ायम शासन से संतुष्ट नहां होते और स्थापित व्यवस्था का विरोध करते हैं। प्रश्न उठता है, मज़दूरों की तानाशाही में दमन किस का हो सकता है ? हम ऊपर कह चुके हैं, मज़दूरों ( स्वयं मेहनत करने वालों ) के शासन में मेहनत करनेवालों का शोषण नहीं हो सकता और जो लोग मेहनत नहीं करते—कुछ पैदा नहीं करते—उनका शोषण किया ही नहीं जा सकता। आर्थिक शोषण न होने पर भी मज़दूर शासन में कुछ लोगों का दमन हो सकता है, उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। ऐसे लोग कौन हो सकते हैं ? इनकी संख्या कितनी हो सकती हैं ? और इन लोगों के दमन का कारण क्या हो सकता है ? इस ओर भी एक नज़र डालनी चाहिए।

किसी देश या समाज में मज़दूर शासन क़ायम हो जाने पर सभी लोगों के लिये यह आवश्यक होगा कि वे किसी न किसी रूप में समाज में अपने परिश्रम द्वारा कुछ न कुछ पैदावार करें। ऐसी अवस्था में प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति मज़दूर भी होगा और शासक भी होगा। पूँजीवादी देशों में भी किसान-मज़दूरों की संख्या ९८% या ९९% होती है। मज़दूर राज्य में उनकी संख्या १००% होगी। मज़दूरी न करने वालों की संख्या हज़ारों में एक-आध हो सकती है। ऐसे आदमी यदि सम्पूर्ण समाज और देश की जनता की सम्मति और राय से क़ायम शासन को उखाड़ कर अपने स्वार्थ के अनुकूल शासन क़ायम करने का यत्न करना चाहें तो उन्हें ऐसा करने की स्वतंत्रता देना क्या प्रजातंत्र के सिद्धांतों और

प्रजा हित के अनुकूल होगा ? यदि मज़दूर शासन या समाजवादी शासन में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो सम्पूर्ण जनता के लाभ के उद्देश्य से समाज की व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहते हैं, तो एक मज़दूर होने के नाते अपने विचार प्रकट करने की उन्हें उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी की किसी दूसरे मज़दूर को ; क्योंकि मज़दूर-तंत्र या समाजवादी शासनमें सभी नागरिकों के साधन और अधिकार एक समान हैं। समाज हित विरोधी व्यक्ति के कार्य पर नियंत्रण समाज के लिये आवश्यक है।

समाजवाद और कम्यूनिज़्म—

साम्यवाद और समाजवाद पर विचार करते समय हमने देखा था यद्यपि दोनों शब्दों से एक ही मिलती जुलती भावना का परिचय मिलता है परन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार समाजवाद और कम्यूनिज़्म में अन्तर समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार सोशलिज़्म के लिये समाजवाद शब्द उपयुक्त है, उसी प्रकार कम्यूनिज़्म के लिये कोई उपयुक्त हिन्दी शब्द व्यवहार में नहीं आया। कम्यूनिज़्म के लिये प्रायः वर्गवाद शब्द का व्यवहार होता है परन्तु वर्ग शब्द का अर्थ है श्रेणी। कम्यूनिज़्म श्रेणी के शासन का समर्थन नहीं करता। कम्यूनिज़्म के लिये कुटुम्बवाद अनुवाद ठीक होगा। वर्गवाद का अर्थ मज़दूर शासन होगा, जिसे कम्यूनिस्ट लोग केवल समाजवाद स्थापित करने का साधन समझते हैं ; अपना उद्देश्य नहीं समझते। कम्यूनिज़्म के लिये दूसरा शब्द समष्टिवाद भी प्रयोग में आता है। हम यहां प्रायः कम्यूनिज़्म शब्द का ही व्यवहार कर रहे हैं ताकि अर्थ में भ्रम होने की गुंजाइश न रहे। समाजवादी और कम्यूनिस्ट दोनों ही अपने आपको मार्क्स के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुयायी समझते हैं परन्तु दोनों अवस्था के क्रियात्मक रूप में भेद है। *

---

* अनेक समाजवादी संगठनों में भेद इसलिये दिखाई देता है कि

इस भेद को समझने के लिये मार्क्स के विचार ही प्रमाणिक हैं। समाजवाद समाज के आर्थिक और राजनैतिक संगठन की वह अवस्था है जिसमें पैदावार और बँटवारे के सभी साधन समाज की सम्पत्ति होंगे। किसी एक व्यक्ति को पैदावार के ऐसे साधनों का मालिक बनने का अधिकार न होगा जिन्हें उपयोग में लाने के एक से अधिक आदमियों की शक्ति की ज़रूरत पड़े। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को मेहनत यां मज़दूरी पर लगाकर, उनसे परिश्रम कराकर मुनाफा लेने का हक़दार न होगा। कम्यूनिज़्म भी यही कहता है।

समाजवाद में समानता—

समाजवाद या कम्यूनिज़्म मनुष्यमात्र के लिये समानता का दावा करते हैं। समानता के इस उद्देश्य को अनेक विचित्र तथा विकृत रूपों में पेश किया जाता है। समानता का अर्थ कुछ लोगों की दृष्टि में परिश्रम करने या न करने पर एकसा भोजन तथा दूसरी वस्तुयें मिलना है। कुछ लोगों की राय में समानता का अर्थ है, व्यक्ति की योग्यता या उपयोगिता की परवाह न कर सबसे एक सा शारीरिक परिश्रम करवाना। समाजवादी शासन पर एतराज़ करनेवालों की शंका है, इस प्रकार की व्यवस्था में अपनी शक्तिभर परिश्रम करने के लिये व्यक्ति को प्रोत्साहन कैसे मिलेगा ? क्योंकर कोई व्यक्ति कठिन और जोखिम के काम करने के लिये तैयार होगा ? मार्क्सवाद जिस समता को समाज के लिये आवश्यक समझता है, वह ऐसी नहीं।

समाजवाद में सम्पत्ति पर अधिकार न होने का अर्थ यह नहीं कि कोई व्यक्ति तीन जोड़े मोज़े, बाइसिकल या खाना खाने के बर्तन आदि

---

प्रायः समाजवाद के सिद्धांतों का प्रयोग सुविधानुसार किया जाने का प्रयत्न होता है। समाजवाद का आधार मार्क्स के सिद्धांत हैं। लैनिन और स्टैलिन उसके सर्व सम्मत विद्वान समझे जाते है।

निजी व्यवहार की वस्तुयें नहीं रख सकता। इसका यह भी मतलब नहीं कि वे लोग जो समाज में उत्पत्ति के लिये कोई भी परिश्रम नहीं करते, जिसके पास कोई वस्तु देखें उससे आधी बटालें। समाजवाद की अवस्था का आधार समाज के लिये कुछ बहुत आवश्यक नियम हैं। पहली बात समाजवाद के लिये आवश्यक है, कोई भी व्यक्ति पैदावार में भाग लिये बिना न रहे *। समाजवादी शासन प्रत्येक व्यक्ति के लिये कोई न कोई काम अवश्य देगा, बेकार कोई न रह सकेगा। सभी व्यक्तियों को समान अधिकार होगा कि वे अपने आप को चाहे जिस काम पेशे या धन्धे के योग्य बनाने की कोशिश कर सकें। इसके लिये एक ख़ास दर्जे तक शिक्षा का प्रबन्ध व्यक्तियों के लिये सरकार करेगी। शिक्षा का प्रबन्ध सभी के लिये एकसा होगा। विशेषकार्य के लिये विशेष प्रकार की योग्यता दिखाने पर सरकार व्यक्ति के लिये उस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध करेगी। एक पेशे या काम में लगे रहने पर भी फ़ालतू समय में दूसरे काम या पेशे की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा सबको होगी।

क़ानूनी रूप से समाजवाद में समानता का अर्थ है—

अवसर की समानता—अवसर की समानता में जीवन निर्वाह के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अवसर मिलना और प्रत्येक पेशे के लिये योग्यता प्राप्त करने के लिये समान अवसर होना दोनों ही बातें हैं।

अपने परिश्रम का पूरा फल पा सकने का समान अधिकार—जब हम स्वीकार करते हैं कि सभी व्यक्ति एक समान एक प्रकार का परिश्रम न करते हैं और न कर सकते हैं और हम यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मेहनत का फल पूरा मिले, तो हम यह आशा नहीं कर सकते कि सबको एकसा फल मिले। हम यह माँग ज़रूर कर सकते हैं, कि हरएक को वह काम करने का अवसर मिले जिसके कि

---

* बच्चों, बूढ़ों और बीमार व्यक्तियों को छोड़कर।

वह योग्य है और जो काम वह करे उसका फल भी उसे पूरा मिल जाय। प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम का पूरा परिणाम पा सकने का अवसर होना ही ऐसी समानता है, जिसे न्याय कहा जा सकता है। इसलिये मार्क्सवाद के अनुसार समाजवादी समानता का अर्थ है—

'प्रत्येक व्यक्ति के लिये जीविका निर्वाह का समान अवसर होना और प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम के फल पर समानरूप से अधिकार होना।' *

मार्क्सवाद के विरोधी आपत्ति करते हैं कि इस अवस्था में भी असमानता रहेगी। परन्तु यह असमानता कैसी होगी; इस बात को को स्पष्ट करने के लिये मार्क्सवाद उनका ध्यान मौजूदा समाज में अनुभव होनेवाली असमानता के कारणों की ओर दिलाता है। प्रथम तो समाजवाद में किसान और मज़दूर पैदावार के साधनों के मालिक स्वयं होने के कारण जितना भी पैदा करेंगे, वह सब उनके ही उपयोग में आयेगा। इससे न केवल उनके भूखे और नंगे रहने का भय नहीं रहता, बल्कि इन किसानों और मज़दूरों के परिश्रम का भाग छीनकर जो अपार वैभव पूँजीपति इकट्ठा कर लेते हैं; वह भी इन्हीं मेहनत करनेवाले लोगों के उपयोग में आयेगा। जब मज़दूरों और किसानों को ख़र्च करने के लिये इतना अधिक धन मिलेगा तो उनकी खरीदने की ताक़त बढ़ेगी और सभी व्यवसायों में काम करनेवाले लोग और अधिक पदार्थ पैदा करेंगे और उन पदार्थों को उत्पन्न कर वे दूसरे पदार्थों को उत्पन्न करने वाले लोगों से विनिमय कर उपयोग के लिये बहुत अधिक पदार्थ पा सकेंगे। पूँजीवादियों के पास मज़दूर किसानों की मेहनत का जाने वाला बहुत बड़ा भाग नहीं जायेगा और किसान

---

* Equal opportunity for all. From every man according to his ability to every one according to [illegible] ,ork."

मज़दूरों की अवस्था में उत्तरोत्तर उन्नति होगी। उदाहरणतः रूस के समाजवादी शासन की जितनी उन्नति हुई है, उसे पूर्ण उन्नति नहीं कहा जा सकता, परन्तु फिर भी समाजवादी शासन आरम्भ होने यानि ज़ार के समय से रूसी मज़दूर की अवस्था तेरह गुणा अधिक अच्छी हो गई है और किसानों की अवस्था में इससे भी अधिक अन्तर आ गया है। ज़मीन्दार-किसान और पूँजीपति-मज़दूर का अन्तर मिट जाने के बाद भी ऊँचे पेशे वाले लोगों, उदाहरणतः इंजीनियर, डाक्टर, मैनेजर आदि का काम करनेवालों और दूसरे व्यक्तियों की अवस्था में अन्तर रह सकता है। जब मार्क्सवाद के आदर्श पर समाजवाद की कल्पना करते हैं, इस अवस्था के अन्तर को भी बहुत घटता हुआ देखते हैं।

समाज में बहुत से काम कठोर और अच्छे न मालूम होने वाले हैं और कुछ आसान और अच्छे मालूम होने वाले। विचित्र बात यह है कि कठोर और अप्रिय काम करने पर परिश्रम का फल ( मज़दूरी ) कम मिलता है और आसान और अच्छे मालूम होने वाले कामों में परिश्रम का फल ( मज़दूरी ) अधिक मिलता है। पूँजीवादी समाज में ख़ास-ख़ास मज़दूरियों की दर या मोल इस बात से निश्चित होता है कि किसी एक काम में आवश्यकता कितने मज़दूरों की है और उस काम में मज़दूरी चाहने वाले मज़दूरों की संख्या कितनी है। यदि ज़रूरत से कम आदमी काम करने वाले हैं तो मज़दूरी या तनख़्वाह अधिक मिलेगी और अगर मज़दूरी चाहने वालों की तादाद ज़्यादा है तो उन्हें मज़दूरी कम मिलेगी। हमारे पूँजीवादी समाज का संगठन इस प्रकार का है कि ऊँचे दर्जे के कामों की योग्यता और शिक्षा पाने का अवसर बहुत कम आदमियों को रहता है। इसलिये ऐसे काम की शिक्षा पाये व्यक्ति कम होने से उनकी मज़दूरी की दर ज़्यादा रहती है।

मज़दूर श्रेणी की बहुत बड़ी संख्या ज़रूरी शिक्षा और योग्यता

प्राप्त न कर सकने के कारण इस बात के लिये मजबूर रहती है कि वह कठोर और मज़दूरी के काम करे ; क्योंकि उनके लिये सिवा उसके दूसरा कोई काम है ही नहीं। समाजवादी शासन में जितने भी आदमी चाहेंगे ऊँचे दर्जे की शिक्षा और योग्यता प्राप्त कर सकेंगे। मज़दूरों को ऊँचे दर्जे के काम सीखने और करने की स्वतंत्रता रहेगी। योग्य होने पर भी निचले दर्जे का काम करने के लिये उन्हें मजबूर न होना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त समाजवादी शासन में मशीन का प्रयोग उन सब कामों के लिये होगा, जो कठिन हैं और अच्छे नहीं मालूम होते।

पूँजीवादी समाज में पूँजीपति यह देखता है कि अमुक काम मशीन से सस्ता कराया जा सकता है या मज़दूर से। उदाहरणतः, सड़क कूटने के लिये जहाँ मज़दूरी कम है, वहाँ आदमी कूटते हैं और जहाँ मज़दूरी ज़्यादा है, वहाँ इंजन सड़क कूटते हैं। परन्तु समाजवादी शासन में देखा यह जायगा कि समाज के व्यक्तियों को लाभ किस प्रकार होता है। मज़दूरों की संख्या बढ़ने से मज़दूरों के बेकार होने का सवाल समाजवाद में पैदा नहीं होता। यदि मशीन की उन्नति के कारण जिस काम को आज सौ मज़दूर करते हैं कल दस मज़दूर कर लेंगे तो बजाय नब्बे मज़दूरों के बेकार होने के समाज के लिये और उपयोगी पदार्थ तैयार करने के काम शुरू हो जायँगे। मिसाल के तौर पर मज़दूरों के लिये अच्छा फर्नीचर, बढ़िया मकान आदि-आदि तैयार होंगे और प्रत्येक मज़दूर आज की तरह दस-दस घण्टे काम न कर, बारी-बारी से केवल चार या पाँच घण्टे काम करेंगे या बारी बारी से छुट्टी ले लेकर काम करेंगे।

मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद में समानता का यही आदर्श है—'अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के उपायों की प्राप्ति के लिये समान अवसर हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल पाने का समान अवसर हो।'

## वैयक्तिक स्वतंत्रता—

समाजवाद से प्राप्त होने वाली समानता को ही मार्क्सवाद अपनी पूर्ण सफलता नहीं समझते। समाजवाद को वह मनुष्य-समाज में वास्तविक समानता लाने का साधन या तैयारी समझते हैं। मार्क्सवाद परिस्थितियों और भौतिक तथ्यों को महत्व देता है। वह इस बात से इनकार नहीं करता कि हमारे मौजूदा समाज में मनुष्यों की शारीरिक और मस्तिष्क की उन्नति में बहुत भेद हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य को अपना निजी स्वार्थ पूरा करने के अवसर की पूरी स्वतंत्रता दे दी जाय, तो बहुत से योग्य और बलवान मनुष्य अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये दूसरों का जीवन असम्भव कर देते हैं। मार्क्सवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता और विकास को महत्व देता है। परन्तु वह वैयक्तिक स्वतंत्रता का सभी व्यक्तियों को समान रूप से देना चाहता है। यदि किसी एक व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ यह हो कि सैकड़ों आदमी उस व्यक्ति के आधीन हो जायँ, तो इस प्रकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये मार्क्सवाद में स्थान नहीं है।

जान स्टुअर्ट मिलने वैयक्तिक स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए कहा है :—एक व्यक्ति की नाक की सीमा वहाँ तक है जहाँ कि दूसरे व्यक्ति की नाक शुरू हो जाती है ( Nose of one man ends where the nose of other man begins. ) इसे हम दूसरे शब्दों में भी कह सकते हैं कि व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वतंत्रता एक दूसरे से टकराती हैं। ऐसी अवस्था में यदि बलवान और अधिक योग्य व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से लाभ उठाये बिना संतुष्ट न हो तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही व्यक्ति स्वतंत्रता का आनन्द उठा सकता है। सिकन्दर जैसे व्यक्ति भी तो संसार में पैदा हो सकते हैं जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना राज्य क़ायम करने के स्वप्न देखा करते हैं। यह केवल कल्पना ही नहीं,

हिटलर के नेतृत्व में जर्मन राष्ट्र संसार भर पर जर्मनी का साम्राज्य क़ायम करने का स्वप्न देख रहा है।

इतिहास इस बात का गवाह है कि संसार की गोरी जातियों ने अपनी स्वतंत्रता का अर्थ काली जातियों पर हुकूमत क़रना, उनका शोषण करना समझा है। इस प्रकार वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ रहा है मनुष्य समाज में व्यक्तियों और राष्टों का परस्पर संघर्ष और अशान्ति। जो वैयक्तिक स्वतंत्रता मनुष्य-समाज के सभी व्यक्ति पा सकते हैं, उसमें दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता का ध्यान रखना आवश्यक है। सभी व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें, इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को एक सीमा के भीतर रखे। एक व्यक्ति की स्वतंत्रता उसी सीमा तक जाये, जहाँ तक कि वह दूसरे भ्यक्तियों की स्वतंत्रता पर आघात नहीं करती। किसी व्यक्ति के अधिक बलवान होने या बुद्धिमान होने का यह अर्थ न होना चाहिये कि वह दूसरे व्यक्तियों को दबाकर अपना मतलब पूरा करे। मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद की वैयक्तिक स्वतंत्रता ऐसी है, जिसमें किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता पर हमला न कर सके। यह सीमा इस ख़याल से लगाई जाती है कि सभी मनुष्यों को एक समान स्वतंत्रता मिल सके।

कम्यूनिज़्म—

व्यक्तियों के जीवन में दिखाई पड़नेवाली असमानता की जड़ में व्यक्तियों के बल और योग्यता की असमानता मौजूद है। अध्यात्मवादी और पूँजीवादियों के विचार में यह असमानता दूर नहीं हो सकती। परन्तु मार्क्सवाद इस असमानता को भी उत्तरोत्तर दूर कर देने का दावा करता है। जिस अवस्था में यह असमानता दूर हो जायगी, उस अवस्था को मार्क्सवाद कम्यूनिज़्म या कुटुम्बवाद कहता है। कम्यूनिज्म

में जहाँ तक सम्भव है व्यक्तिगत असमानता को दूर करने के बाद समाज के संगठन का सिद्धान्त होगा—'प्रत्येक मनुष्य अपने सामर्थ्य भर परिश्रम करे और प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार पदार्थ मिलें" *। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यों की योग्यता और शिक्षा की असमानता शनैः शनैः दूर हो जाय।

मनुष्यों में शारीरिक बल, बुद्धि और शिक्षा की असमानता दूर करने के उपायों पर विचार करने से पहले ऐसी असमानता के कारणों पर विचार करना चाहिये। जो लोग यह समझते हैं कि इस प्रकार की असमानता पिछले जन्म के कर्मों के कारण है, उन्हें मार्क्सवाद यह उत्तर देता है कि कर्म करने के लिये अवसर भी तो परिस्थितियों के अनुसार ही मिलता है। इसलिये परिस्थितियाँ ही मुख्य हैं। समाजवाद सब मनुष्यों को शिक्षा, मस्तिष्क और स्वास्थ्य की उन्नति का समान अवसर देकर मनुष्यों में दिखाई देने वाली असमानता को दूर करने का यत्न करता है। कहा जायगा कि मनुष्य जन्म से ही कम या अधिक तन्दुरुस्त, कम या अधिक अक़्लमन्द होते हैं। परन्तु कम तन्दुरुस्त और कम अक़्लमन्द लोग होते हैं प्रायः ग़रीबों की सन्तान और अधिक तन्दुरुस्त और अधिक अक़्लमन्द होते हैं प्रायः अमीरों की सन्तान। कोई भी व्यक्ति साधनों के प्रभाव और परिणाम की उपेक्षा नहीं कर सकता। मार्क्सवाद में सबको समान अवसर होने से नई पैदा होने वाली पीढ़ी में जन्म से पाई जाने वाली असमानता बहुत कम हो जायगी और कुछ पीढ़ियों तक समान परिस्थितियों में मनुष्यों का जन्म होने पर हम मनुष्यों को प्रायः एक-सा बुद्धिमान और बलवान देख पायेंगे। यदि मनुष्य पशुओं की नस्ल में उन्नति कर सकता है तो मनुष्य की नस्ल में भी उन्नति सम्भव है। मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि इसके लिये

---

* From every man according to his ability, to every one according to his need."

समान अवसर हो जाने पर अन्धे, लूले या रोगी बच्चे बिलकुल पैदा नहीं होंगे। हो सकता है लाखों में कुछ ऐसे बच्चे पैदा हो जायँ परन्तु समाज के नियम इस प्रकार के अपाहिजों के आधार पर नहीं, बल्कि साधारण जनता की अवस्था के आधार पर बनते हैं।

पूँजीवाद में उन्नति के वैज्ञानिक साधन केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिये उपयोग में आते हैं; परन्तु समाजवाद और कुटुम्ववाद में यह साधन सभी लोगों के उपयोग के लिये होंगे। पूँजीवादी यह कहते हैं कि मार्क्सवाद का यह दावा कि प्रत्येक व्यक्ति के शक्तिभर परिश्रम करने से कुटुम्ववाद में आवश्यकतानुसार पदार्थ मिल जायँगे, निरा हवाई महल है। पदार्थों के पैदा किये जाने की एक सीमा है, पैदावार को आख़िर कितना बढ़ाया जा सकता है? इसके उत्तर में मार्क्सवाद का कहना है कि विज्ञान और मशीन की शक्ति की सीमा बहुत दूर तक है। कुटुम्ववाद क़ायम होने से पहले कला-कौशल और मशीन की उन्नति बहुत अधिक करनी होगी। इतनी अधिक कि बहुत थोड़े से परिश्रम से बहुत अधिक पैदावार हो सके।

पूँजीवाद में विज्ञान और मशीन को पैदावार करने के लिये केवल उस हद तक व्यवहार में लाया जाता है, जहाँ तक कि पदार्थों की बिक्री द्वारा मुनाफ़ा कमाने की गुंजाइश है। परन्तु कुटुम्ववाद में बिक्री और मुनाफ़े का प्रश्न नहीं, वस्तुओं को उपयोग के लिये पैदा करना उद्देश्य होगा। कला-कौशल की उन्नति से किस प्रकार सब लोगों की आवश्यकता पूर्ण करना सम्भव है, इसका उदाहरण साधारण जीवन में देखा जा सकता है। बिजली के आविष्कार से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने मकान में रात के समय रोशनी करना सम्भव न था। परन्तु आज हम सड़कों और गलियों तक में रोशनी देखते हैं और इस रोशनी को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है। वस्त्रों के प्रश्न को भी विज्ञान ने हल कर दिया है। प्रथम तो कपास और

ऊन की पैदावार बेहद बढ़ाई जा सकती है और फिर विज्ञान कौलियों ऐसे पदार्थ तैयार कर सकता है जिनसे कपास तथा ऊन की ही तरह कपड़ा बन सकता है।

पूँजीवाद के युग में यह सब साधन काम में नहीं लाये जाते क्योंकि तैयार किये गये सामान को ख़रीदने वाले लोग नहीं मिलते। मुग़लों के राज में बरफ़ केवल बादशाहों के लिये हिमालय पहाड़ से लाई जाती थी। आज वह गली-गली मिलती है। रोटी का सवाल मनुष्य के लिये सबसे पहला सवाल है। पूँजीवादी देशों में भूखों की संख्या देखकर यही शंका होती है कि सब लोगों के लिये आवश्यक भोजन पैदा करना समाज के लिये कठिन है। परन्तु रूस के समाजवादी शासन में गेहूँ तथा दूसरे पदार्थों की उपज इतनी बढ़ गई है कि तीसरी पंचवर्षीय-आयोजना (Third Five Year Plan) * के अन्त में वहां रोटी का कुछ भी मूल्य जनता से न लेने का विचार किया जा रहा है। रोटी वहां इस तरह मुफ्त मिल सकेगी, जिस तरह शहरों की सड़कों पर बिजली मुफ्त मिलती है या होटलों में पानी मुफ्त मिलता है। यह एक उदाहरण है जिससे समाजवाद में बढ़ सकने वाली पैदावार का कुछ

---

* रूस के समाजवादी शासन में सभी व्यवसायों का प्रबन्ध समाज की ओर से होता है। लेखा लगाकर देख लिया जाता है कि कितना ख़र्च होगा और कितनी पैदावार की ज़रूरत है। इसी प्रकार कला कौशल की उन्नति के लिये भी वहाँ आयोजना तैयार की जाती है। रूस ने १९२८ में पहली पंचवर्षीय आयोजना तैयार की थी। इसके अनुसार पाँच वर्ष के समय में एक निश्चित मात्रा तक काम कर देने का निश्चय किया गया था। इस आयोजना के सफल हो जाने के बाद दूसरी पंचवर्षीय आयोजना और उसके बाद तीसरी पंचवर्षीय आयोजना तैयार की गई, जो चालू है ( सन् १९४० )।

अनुमान किया जा सकता है। समाज में पैदावार की कितनी शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, इसके उदारहण में मार्क्सवादी ऐसे अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों का वर्णन करते हैं, जिन्हें उपयोग में इसलिये नहीं लाया जाता कि पूँजीवादियों को अपनी पुरानी मशीनें बदलने से आर्थिक हानि होगी। पूँजीवादी आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिकों से आविष्कार ख़रीदकर अपने पास रख लेते हैं ताकि दूसरे पूँजीवादी उन आविष्कारों से लाभ उठाकर बाज़ार में आगे न बढ़ जायँ। पैदावार की शक्ति पूँजीवार समाज में किस प्रकार नष्ट होती है, इसका एक बड़ा उदाहरण साम्राज्यवादी भी युद्ध हैं।

## मार्क्सवाद और युद्ध—

युद्ध पूँजीवादी प्रणाली की बहुत बड़ी समस्या है जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। पूँजीवादी प्रणाली का आधार जीवन निर्वाह के साधनों के लिये खुले मुक़ाबिले की स्वतंत्रता है। इस खुले मुक़ाबिले पर कुछ ऐसे प्रतिबंध लगाये गये हैं जिनसे मनुष्य समाज आपस में झगड़ कर मरने से बचा रहता है उदाहरणतः बल प्रयोग या चोरी द्वारा दूसरों के परिश्रम की कमाई न छीनना। परन्तु मुनाफ़े के रूप में खुले मुक़ाबिले का सिद्धान्त क़ायम रहता है क्योंकि उसके बिना पूँजी एकत्र नहीं हो सकती।

मुनाफ़े के लिये खुले मुक़ाबिले का प्रश्न जब तक व्यक्तियों में रहता है, अपनी सरकार के नियंत्रण में रहने के कारण वे मारकाट से बचे रहते हैं। जब यह मुक़ाबिला दो देशों के पूँजीपतियों में होने लगता है, अवस्था बदल जाती है। अपने देश में मुनाफ़े की गुँजाइश न देख दूसरे देशों पर कब्ज़ा करने के लिये या अपने आधीन देशों को अपने कब्ज़े में रखने के लिये, या बलवान देशों से अपनी रक्षा करने के लिये, पूँजीवादी देशों को युद्ध के लिये तैयार रहना पड़ता है और युद्ध करने

पड़ते हैं। संसार में पूँजीवादी शासन प्रणाली के रहते यदि कोई देश निशस्त्र हो जाता है, युद्ध के लिये तैयार नहीं रहता तो दूसरे खूँखार पूँजीवादी देश उसे झपट लेने के लिये आगे बढ़ते हैं। हमारे देखने-देखते कई छोटे-छोटे देशों को नाज़ी और फैसिस्ट साम्राज्यवादी देशों ने हड़प लिया। ऐसी अवस्था में पूँजीवादी और साम्राज्यवादी प्रणाली के रहते, युद्ध के लिये तैयार रहना पूँजीवादी देशों के लिये आवश्यक होजाता है।

युद्ध और युद्ध की तैयारी का अर्थ पैदावार के दृष्टिकोण से क्या है, समाजहित की दृष्टि से इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सभी देशों में आमदनी का बहुत बड़ा भाग बल्कि संसार भर में मेहनत से पैदा किये गये धन का मुख्य भाग युद्ध की तैयारियों में और युद्ध लड़ने पर ख़र्च हो जाता है। धन का यह भाग मनुष्य समाज को क्या लाभ पहुँचाता है : कष्ट, भय और अकाल मृत्यु। यदि यह सब पूँजी और परिश्रम मनुष्य-समाज के लिये उपयोगी पदार्थ तैयार करने में ख़र्च हो तो मनुष्य समाज की अवस्था कितनी बेहतर हो सकती है ! युद्ध की तैयारियों में तो पूँजी नष्ट होती ही है इसके अलावा प्रत्येक देश में लाखों बलवान जवान समाज के कल्याण के लिये कुछ भी पैदावार न कर अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति मरना और दूसरों को मारना सीखने में ही नष्ट कर देते हैं। यदि इन करोड़ों सिपाहियों की शक्ति और युद्ध लड़ने के लिये तैयार किये जाने वाले सामानों पर ख़र्च होने वाली शक्ति समाज के कल्याण के लिये ख़र्च हो तो सभी देशों में मनुष्यों की अवस्था कितनी बेहतर हो सकती है !

पूँजीवादी प्रणाली के रहते युद्ध समाप्त नहीं हो सकते। जब तक मुनाफ़े द्वारा अधिक पूँजी समेटने का क़ायदा रहेगा, उसके लिये लड़ाई होगी ही। मार्क्सवाद के विचार में पूँजीवाद उन्नति करता हुआ साम्राज्यवाद की अवस्था में पहुँच चुका है। पूँजीपतियों देशों की

पूँजी अपने देशों में मुनाफ़े के लिये पर्याप्त क्षेत्र न पा दूसरे देशों में मुनाफ़ा कमाने की जगह ढूँढ़ रही है। इंगलैण्ड और फ्रान्स की पूँजी और साम्राज्य पृथ्वी के अधिकांश भाग पर फैले हुए हैं। अपने राजनैतिक प्रभुत्व के कारण इंगलैण्ड और फ्रांस के पूँजीपतियों को आधीन देशों से आर्थिक लाभ उठाने का अवसर मिलता है। जर्मनी और इटली की उठती हुई साम्राज्यवादी भावना को यह अवसर नहीं; इसलिये जर्मनी और इटली दूसरे देशों पर प्रभुत्व जमाने के लिये बेचैन हैं। पूँजीवादी प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का मार्ग यह है, कि सभी देश अपनी सैनिक शक्ति को इतना बढ़ा लें कि कोई किसी पर आक्रमण करने का साहस न कर सके। इसके लिये मनुष्यों का कितना परिश्रम अनउपजाऊ कार्यों में नष्ट होगा; इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

बरसों तक लाखों मनुष्यों के परिश्रम को केवल उसमें आग लगा देने के लिये युद्ध की सामग्री के रूप में इकट्ठा किया जाता है; और उसका परिणाम होता है लाखों मनुष्यों को भून डालना। मार्क्सवाद का कहना है, यदि पैदावार के साधनों का उपयोग बजाय मुनाफ़ा कमाने के समाज के उपयोग के पदार्थ तैयार करने में किया जाय तो पूँजीवादी होड़ न केवल एक देश में ही न रहेगी बल्कि अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवादी होड़ भी समाप्त हो जायगी। पूँजी को दूसरे देशों के बाज़ारों में लगाने की ज़रूरत न होगी। इससे साम्राज्य विस्तार की ज़रूरत न रहेगी और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों की समाप्ति हो जायगी। युद्धों की ज़रूरत और उनका भय न रहने से संसार भर के मनुष्यों के परिश्रम का जो बड़ा भाग युद्ध की तैयारियों और युद्ध लड़ने में स्वाहा होता है, वह मनुष्य-समाज के उपयोग में लगेगा और समाज में इतनी पैदावार हो सकेगी जो सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओं को अच्छी तरह पूरा कर सकेगी।

मार्क्सवाद युद्ध को समाज की शक्ति का नाश समझता है जो

कि होड़ के सिद्धांत पर चलनेवाली पूँजीवादी प्रणाली का आवश्यक फल है। पूँजीवादी लोग राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का रंग देकर अपने अपने देश के किसानों और मज़दूरों को अपने हितों के लिये जान कुर्बान करने के लिये तैयार करते हैं। जब तक पूँजीपति अपने देश में बने माल और सौदे से विदेशी बाजारों को भर कर मुनाफ़ा कमाने के तरीके पर काम करते थे, उस देश के मज़दूरों को उससे थोड़ा बहुत लाभ हो सकता था अर्थात् वे बेकारी वगैरा की मुसीबत से बचे रहते थे। परन्तु वर्तमान समय में पूँजीवादियों की पूँजी मुनाफे द्वारा इतनी बढ़ चुकी है कि उनके लिये उनके अपने देश में स्थान ही नहीं। वे इसे विदेशों और कम विकसित देशों में लेजाकर लगाना पसन्द करते हैं जहाँ मज़दूरी कम होती है और कच्चे माल भी सस्ते मिलते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों के देश के मज़दूरों को देशभक्ति के नाम पर पूँजीवाद के लिये जान देने से कुछ भी नहीं मिलता।

साधनहीन मज़दूर की कोई मातृभूमि नहीं। जिस व्यक्ति की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं, उसके लिये कोई देश खास अपना नहीं। उसका पालन केवल उसके दो हाथ करते हैं। उसे जहाँ कहीं मज़दूरी मिल जाय, वही उसका देश है। इसी प्रकार पूँजीवादी के लिये भी मातृभूमि का कोई अर्थ नहीं। उसे जहाँ लाभ होगा उसी जगह पर अपना अधिकार क़ायम रखने के लिये अपने देश के किसान-मज़दूरों को तोपों की आग में झुलसा देगा। उदाहरणतः इटली ने एबीसीनिया में और जापान ने चीन में अपने लाखों सैनिक मरवा डाले। इंगलैण्ड के पूँजीपति ईरान और बरमा के तेल के कुओं के लिये अपने देश के लाखों सिपाही कुर्बान कर सकते हैं। परन्तु इन कुओं से और साम्राज्यवादी शक्तियों के नये-नये देशों पर कब्ज़ा करने से मज़दूरों की अवस्था में कोई सुधार नहीं हो सकता।

मार्क्सवाद के अनुसार युद्ध मनुष्य के जंगलीपन और असभ्य अवस्था का चिह्न है। जब वह बजाय स्वयं उत्पन्न करने के दूसरों से छीन कर ही अपना पेट भरना चाहता था। जब मनुष्य में सामाजिक भावना और सहयोग की बुद्धि उत्पन्न हुई तो एक परिवार के लोगों ने आपस में लड़ना बन्दकर दिया। एक परिवार के आदमी अपना हित एक समझने लगे, परन्तु दूसरे परिवार के लोगों से युद्ध करते रहे। इसके बाद जब एक परिवार दूसरे परिवार की सहायता से जीवन बिताने लगा तो उनमें गाँव भर का हित एक समझने की बुद्धि पैदा हुई। स अवस्था गाँवों में युद्ध होने लगे। मनुष्य की आवश्यकताओं और उसके पैदावार के साधनों के बढ़ने से उसके अपनेपन का क्षेत्र और बढ़ा और छोटे छोटे इलाके, जिनका आपस में सम्बन्ध था, मिलकर देशों के रूप में संगठित हो गये।

सभ्यता और पैदावार के साधनों के बढ़ जाने से अब मनुष्य का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि संसार का कोई भी देश दूसरे देशों की सहायता के बिना अकेला नहीं रह सकता। सभी देशों के परस्पर संबंध हैं, इसलिये उनमें परस्पर विरोध न होकर सहयोग और सहायता का सम्बन्ध होना चाहिए। इतिहास के विकास को दृष्टि में रखकर मार्क्स-वाद का कहना है, अब समय आ गया है कि देशों और राष्ट्रों का भेद मिटाकर सम्पूर्ण संसार एक राष्ट्र का रूप धारण कर ले। पूँजीवाद मनुष्य की इस उन्नति को साम्राज्यवाद का रूप देकर कई देशों को एक संग-ठन में बाँधना चाहता है। परन्तु साम्राज्य में मालिक देश दूसरे देशों और उपनिवेशों का शोषण कर अपना स्वार्थ पूरा करने की चेष्टा करता है। इसलिये शोषित देशों में असंतोष और बग़ावत का भाव बना रहेगा। मार्क्सवाद की दृष्टि से संसारव्यापी राष्ट्र पूँजीवादी प्रणाली के आधार पर नहीं बल्कि समाजवादी प्रणाली के आधार पर ही क़ायम हो सकता है जिसमें एक देश द्वारा दूसरे देश से लाभ उठाने की नीति न हो।

मार्क्सवाद के अनुसार संसार में शान्ति क़ायम होने के लिए पूँजी-वादी प्रणाली का अन्त होना ज़रूरी है। संसार का प्रत्येक देश संसार-व्यापी समाज और राष्ट्र का अंग बन जाना चाहिए और उनका संबंध परस्पर सहयोग का होना चाहिए। बजाय इसके कि भिन्न भिन्न राष्ट्र एक दूसरे को लूटकर सुखी होने की कोशिश करें, उन्हें अपनी अपनी शक्ति पर पैदावार कर एक दूसरे के सहयोग से अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करनी चाहिएँ। यदि दूसरे देशों से मुनाफ़ा कमाने का प्रलोभन न रहे तो अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का कोई कारण न रहेगा। यह प्रलोभन मिट सकता है, केवल पूँजीवादी प्रणाली का अन्त हो जाने से। किसी देश के किसानों, मज़दूरों और मेहनत करनेवालों का दूसरे देश के किसानों मज़-दूरों और मेहनत करनेवालों से कोई वैर नहीं हो सकता। मेहनत करने-वालों का लाभ तो इसी बात में है कि दूसरे लोग भी मेहनत करें, तभी उन्हें अपनी मेहनत से की गई पैदावार के बदले दूसरों की मेहनत से की गई पैदावार बदले में मिल सकेगी। इस प्रकार मार्क्सवाद युद्ध द्वारा नाश करने के बजाय पैदावार में ही मनुष्य के परिश्रम को लगाने के पक्ष में है ताकि पदार्थ इतने परिणाम में पैदा हो सकें कि वे सबके लिये पर्याप्त हों। *

---

* मार्क्सवाद युद्ध और युद्ध की तैयारी के पक्ष में नहीं, परन्तु रूस जो समाजवादी और मार्क्सवादी देश होने का दावा करता है, इस समय संसार की सबसे बड़ी सैनिक शक्तियों में है। इस का कारण है कि पूँजीवादी साम्राज्यशाही शक्तियाँ रूस में समाजवाद की सफलता से अपने देशों में भी समाजवादी क्रान्ति होने का भय देखती हैं। वे इसलिए वे रूस को कुचलने के लिए सदा तैयार रहती हैं। रूस को इस बात का अनुभव समाजवादी क्रान्ति के बाद हुआ जब चार वर्ष तक पूँजी-वादी राष्ट्रों ने रूस को घेर कर समाजवाद को असफल करने की चेष्टा की थी। रूस कई दफ़ा सभी राष्ट्रों के सामने निश्शस्त्रीकरण के प्रस्ताव

विकास के लिये प्रोत्साहन—

मार्क्सवाद के अनुसार समाज की समाजवादी व्यवस्था में जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर होगा और प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम का पूरा फल मिलेगा और कुटुम्बवाद या कम्यूनिज़्म, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने सामर्थ्य भर मेहनत करने के बाद अपनी आवश्यकता अनुसार पदार्थ प्राप्त कर सकेगा, आकर्षक होने पर भी पूँजीवादियों की दृष्टि में क्रियात्मक नहीं, केवल स्वप्न और कल्पना की वस्तु है। पूँजीवादियों का कहना है, समाजवाद और कुटुम्बवाद में जब व्यक्ति के सामने प्रलोभन नहीं और उचित रूप से काम न करने पर दुखी और ग़रीब रहने का भय भी नहीं तो वह काम क्यों करेगा ? और करेगा भी तो अपनी शक्ति भर नहीं करेगा। ख़ास कर लाभ की आशा न होने पर अपनी शक्ति और दिमाग़ ख़र्च कर कोई नये-नये आविष्कार क्यों करेगा ?

पूँजीवादियों का कहना है कि हज़ारों वर्षों से पीढ़ी दर पीढ़ी मनुष्य की यही प्रकृति और स्वभाव लाभ की आशा से ही काम करने का रहा है। लाभ धन-धान्य के रूप में होना चाहिए या दूसरों पर शक्ति बढ़ने के रूप में। समाजवाद और कुटुम्बवाद में इन दोनों ही बातों के लिये स्थान नहीं तो मनुष्य अपनी पूरी शारीरिक और बुद्धि से क्योंकर परिश्रम करेगा ? सुस्ती और काहिली से काम करने वाले भी उतने ही पदार्थ पाते हैं जितने कि विशेष परिश्रम करनेवाले, तो स्वाभाविक ही अधिक परिश्रम करना किसे अच्छा लगेगा ? अपनी अवस्था को सुधारने की आशा व्यक्ति को काम करने का उत्साह देती

---

पेश कर चुका है जिन्हें पूँजीवादी राष्ट्रों ने स्वीकार नहीं किया। रूस पर जर्मनी के आक्रमण ने रूस की नीति का पूर्ण समर्थन कर दिया है।

है, इससे समाज की उन्नति होती है। इसके विपरीत समाजवाद और कुटुम्बवाद में व्यक्ति को अपनी अवस्था सुधारने का प्रोत्साहन न होने से न केवल समाज के लिये उन्नति का मार्ग बन्द हो जायगा बल्कि वह अवनति की ओर चल पड़ेगा।

मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में पूँजीवादियों का यह विश्वास उनकी धारणा पर निर्भर करता है। लाभ और स्वार्थ के लिये परिश्रम करना, शक्ति संचय करने की इच्छा होना और दूसरों से लाभ उठाने की इच्छा पूँजीवादियों की नज़र में मनुष्य प्रकृति का अंग है, जो उसमें प्रकृति के दूसरे जीवों के समान है।

जिन बातों को पूँजीवादी मनुष्य की प्रकृति बताते हैं, मार्क्सवाद उन्हें मनुष्यों का अभ्यास समझता है, जो उनकी परिस्थितियों के कारण बनता और रहता है। मनुष्य-समाज के रीति-रिवाजों और अभ्यासों का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य के स्वभाव और अभ्यास—जिन्हें पूँजीवादी प्रणाली के समर्थक मनुष्य की प्रकृति कहते हैं—मनुष्य की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहे हैं। वे जैसे आज दिखाई देते हैं, सदा ही ऐसे नहीं रहे। प्राचीन काल में मनुष्य आपस में युद्ध होने पर हार जाने वाले शत्रु को मारकर खा जाते थे। बलवान मनुष्य कमज़ोर के पास धन देख उससे छीन लेते थे। हार जाने वाले लोगों की स्त्रियों को छीनकर अपनी स्त्री बना लेते थे। राजा लोग दूसरे देशों का धन छीनने के लिये या सुन्दर स्त्रियों के लिये बड़ी-बड़ी सेनायें ले दूसरे देशों पर चढ़ाई किया करते थे। उस समय मनुष्य समाज का यही अभ्यास था, पूँजीवादी लोग इसे प्रकृति कह सकते हैं। परन्तु आज मनुष्य समाज इसे सहन नहीं कर सकता। असभ्य कहलाने वाले लोगों में आज तक मनुष्यों का बलिदान करने की रीति है, वे दूसरे कबीले के लोगों को देखते ही लूट लेते हैं। यह सब बातें सभ्य मनुष्यों में नहीं पाई जातीं। [illegible] [illegible] में

आज भी इस प्रकार के रिवाज़ हैं कि नौजवान जब तक सफलता पूर्वक चोरी न करले, उसे बालिग़ का अधिकार नहीं मिल सकता, उसका विवाह नहीं हो सकता।

मनुष्य की प्रकृति परिस्थितियों से कैसे बदलती है ; इसका एक उदाहरण हम भिन्न-भिन्न देशों की स्त्रियों की अवस्था में देख सकते हैं। मुस्लिम देशों की स्त्रियों की प्रकृति है कि वे पुरुष को देख छिप जायँ, कभी पुरुषों के सामने न निकलें। उनके लिये स्वतंत्र रूप से अपना घर बसाना या जीविका निर्वाह का उपाय करना सम्भव नहीं। योरूपीय देशों में स्त्रियों की प्रकृति बिलकुल भिन्न है। वे आर्थिक क्षेत्र में पुरुषों के समान काम करती हैं; रूस में तो वे सेना और हवाई-सेना तक में काम करती हैं।

मनुष्य के उन अभ्यासों का मुक़ाबिला आज दिन के अभ्यासों से करने पर हम देखते हैं कि मनुष्य का स्वभाव और बदल गया है। अभ्यास और स्वभाव बदलने का कारण मनुष्य की परिस्थितियों और रहन सहन के ढंग का बदल जाना है। यदि मौजूदा परिस्थितियों और रहन सहन के ढंग बदल दिये जायें तो मौजूदा स्वभाव और अभ्यास ( पूँजीवादियों के शब्दों में प्रकृति ) भी बदल जायँगे। आज दिन मनुष्य जितना प्रतिदिन ख़र्च करता है, उससे बहुत अधिक बटोर कर रख लेना चाहता है क्योंकि उसे भय है आये दिन शायद उसे निर्वाह के योग्य पदार्थ न मिल सकें। आज मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अधिक धन जमा कर लेना चाहता है क्योंकि वह जानता है कि समाज में प्रतिष्ठा और शक्ति उसे तभी मिल सकती है जब उसके पास काफ़ी धन या उत्पत्ति के साधन हों। मनुष्य पूँजीवादी समाज में दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने की चेष्टा करता है क्योंकि उसे इस बात भय रहता है कि यदि वह दूसरों से बढ़ कर न रहेगा तो दूसरे उसे दबा लेंगे।

ये सब बातें मनुष्य की प्रकृति नहीं। समाज की व्यवस्था हमें

मजबूर करती है कि अपने जीवन के लिये हम सब तरीके अख्तियार करें। यदि समाज का संगठन समाजवादी ढंग पर हो, मनुष्य को इस बात का भय न रहे कि बिना अपने पास सम्पत्ति इकट्ठी किये उसे भूखे नंगे रहना पड़ेगा, तो सम्पत्ति के लिये लोभ भी न रहेगा। यदि मनुष्य को विश्वास हो जाय कि उसका हित सम्पूर्ण समाज के हित के साथ है तो वह शेष समाज को अपना प्रतिद्वन्दी और शत्रु समझ कर अविश्वास की नज़र से नहीं बल्कि अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों की भाँति विश्वास और भरोसे की नज़र से देखने लगेगा।

समाजवादी और कुटुम्बवादी समाज में व्यक्ति को विशेष परिश्रम करने या विचार करने के लिये प्रोत्साहन न होगा, इस बात को भी मार्क्सवादी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि मनुष्य शनैः शनैः सामाजिक प्राणी बन रहा है। पहले वह केवल वैयक्तिक स्वार्थ की ही चिन्ता करता था, अपने चारों ओर के मनुष्यों को अपना शत्रु समझता था। प्रत्येक मनुष्य या परिवार तीर, कमान और बर्छा, भाला ले शेष मनुष्यों का मुक़ाबला करने के लिये तैयार रहता था। अब वह बात नहीं। अब मनुष्य निशस्त्र होकर देश-विदेश सब जगह घूमता है क्योंकि समाज के संगठन ने उसके व्यक्तित्व पर आक्रमण न होने का विश्वास दिला दिया है। मनुष्य इस बात को भी खूब समझने लगा है कि वह समाज के आर्थिक संगठन के बिना नहीं रह सकता। यह समझ लेने पर वह यह भी देखता है कि आर्थिक क्षेत्र में उसकी रक्षा की जिम्मेदारी किसी दूसरे पर नहीं। दूसरे लोग उसे धकेल कर जगह बनाने की फिक्र में रहते हैं, इसलिये वह दूसरों को धकेलकर अपनी जगह बनाने की फ़िक्र में रहता है। जिस प्रकार मनुष्य को बाहरी शत्रुओं से रक्षा का विश्वास समाज के राजनैतिक संगठन ने दिला दिया है यदि उसी प्रकार आर्थिक रक्षा का भी विश्वास समाज दिला दे, तो मनुष्य आर्थिक क्षेत्र में भी अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग नहीं बना-

येगा। वह सम्पूर्ण समाज को सम्पन्न बनाने में अपना हित समझेगा और उसके लिये जितने प्रयत्नों की आवश्यकता, अधिक परिश्रम या आविष्कार के रूप में होगी, सभी कुछ शौक़ और उत्साह से करेगा।

इसके अतिरिक्त मार्क्सवादियों का विश्वास है कि समाजवादी और कुटुम्बवादी संगठन में मनुष्य को विशेष उत्साह से कार्य करने के लिये प्रोत्साहन रहेगा। सम्मान प्राप्त करने की भावना मनुष्य में कम नहीं। शरीर रक्षा और संतान पैदा करने के बाद यह भावना सबसे प्रबल है। पूँजीवादी समाज में मनुष्य का धन उसके सम्मान और आदर का मुख्य आधार समझा जाता है। हम विद्वानों और समाजहित का कार्य करने वालों का सम्मान भी देखते हैं और इस सम्मान का मूल्य भी कम नहीं समझा जाता। यदि धन के कारण सम्मान न हो सके तो वे मनुष्य जो व्यक्तिगत सम्पत्ति बटोरकर सम्मान और आदर पाने की चेष्टा करते हैं, अपनी योग्यता को समाजहित के कामों या शारीरिक और बुद्धि की उन्नति के कामों में लगायेंगे। एक ज़माने में तलवार चलाने वाले का सम्मान था; अब रुपये की थैलीवाले का सम्मान हैं; कल परिस्थिति बदल जाने पर उन्हीं का सम्मान होगा जो समाज के हित के लिये कुछ कर सकते हैं।

समाजवादी व्यवस्था में जो मनुष्य पैदावार बढ़ाने के लिये कोई नवीन आविष्कार कर सकता है या प्रबन्ध में कोई ख़ास खूबी पैदा कर सकता है, उतने ही सम्मान का अधिकारी होगा जितने सम्मान के अधिकारी पूँजीवादी समाज में सेनापति या सरदार होते हैं। मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की परिस्थितियाँ और स्वभाव बदलने के लिये समय चाहिये। इसलिये समाजवादी समाज में—जो कि पूँजीवादी प्रणाली से कुटुम्बवादी में जाने का साधन और मार्ग है, समाज हित के कार्यों के लिये प्रोत्साहन पाने के और भी कारण व्यक्तियों के सामने रखे गये हैं—उदाहरणतः समाजवादी समाज में

( जैसा कि रूस में है ) अधिक अच्छा काम करने के लिये व्यक्ति को अधिक मज़दूरी और पुरस्कार भी मिलता है। वह इस अधिक धन को अपने आराम और शौक़ के लिये ख़र्च कर सकता है परन्तु इस धन द्वारा दूसरों के परिश्रम का फल नहीं छीन सकता।

समाजवादी रूस में सम्मान के विचार से किस प्रकार लोग अधिक परिश्रम और लगन से कार्य करते हैं, इसका एक उदाहरण है, 'परिश्रम के सितारे' (Order of Labour) का तमग़ा या 'लेनिन का तमग़ा' (Order of Lenin)। जिस प्रकार ब्रिटिश सेना में 'विक्टोरिया क्रॉस' (Victoria Cross) तमग़े का महत्व है—कई सिपाही और अफ़सर इसे पाने के लिये जान पर खेल जाते हैं—इसी प्रकार रूस में इन तमग़ों का महत्व है। वहाँ उन लोगों को यह तमग़े दिये जाते हैं जो परिश्रम करने के ऐसे नये ढंगों का आविष्कार करते, जिनसे कम समय और कम परिश्रम में अधिक पैदावार हो, या कोई वैज्ञानिक आविष्कार करते हैं। रूस में जो लोग खेती के लिये कोई नया बीज निकालते हैं या पशुओं की नस्ल को सुधारने का उपाय मालूम करते हैं, उनके जुलूस निकाले जाते हैं।

समाजवाद में न केवल आर्थिक और औद्योगिक उन्नति का मार्ग खुला रहता है बल्कि साहित्य, संगीत, चित्रकला और इस प्रकार की दूसरी ललित कलाओं के लिये भी वहाँ उन्नति का अधिक अवसर रहता है। शारीरिक आवश्यकताओं के आसानी से पूर्ण हो जाने के कारण और शिक्षा का अधिक प्रचार होने से सर्वसाधारण भी इन विषयों की ओर ध्यान दे सकते हैं। पूँजीवादी समाज में ये विषय केवल धनियों के शौक के लिये हैं। समाजवाद में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जीवन निर्वाह की निरंतर चिन्ता से छुट्टी मिल जाने के कारण वे सभ्यता और संस्कृति के विकास के कामों को अधिक अच्छे ढंग और सुविधा से कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों

की धन कमाने में कोई आसक्ति न होकर उनकी सारी शक्ति ऐसे ही कामों में व्यय होगी, जिनसे मनुष्य समाज के सुख और आनन्द की वृद्धि हो।

कुछ लोग इस प्रश्न को और भी दूर तक ले जाते हैं और कहते हैं कि जब भोजन मिलना ही है तो काम किया ही क्यों जाये ? इसका अर्थ होता है कि मनुष्य स्वभाव से कोई भी काम करना नहीं चाहता। परन्तु बात ऐसी नहीं। क्या मनुष्य और क्या दूसरे जीव, प्रकृति से ही निष्क्रिय नहीं रह सकते ; वे कुछ न कुछ करेंगे ही। पूँजीवादी समाज में प्रायः ग़रीब आदमी से बचने की चेष्टा करते हैं। इसका प्रथम कारण तो यह है कि उन्हें अपने सामर्थ्य से अधिक काम करना पड़ता है, दूसरे, जितना काम वे करते हैं उसका फल उन्हें पूरा नहीं मिलता, तीसरे उन्हें रुचि और उत्साह नहीं रहता। समाजवाद का जो चित्र मार्क्सवादी हमारे सामने रखते हैं, उसमें अरुचिकर कामों का बहुत सा भाग तो मशीनें करेंगी और शेष कठिन परिश्रम भी कम मात्रा में करना पड़ेगा और उसके लिये मज़दूरी या फल पूरी मात्रा में मिलेगा। इसलिये समाजवाद में मनुष्यों के काम से जी चुराने की कोई वजह नहीं दिखाई देती इस प्रकार धन का प्रलोभन दिये बिना भी उन्नति, विकास और आविष्कार का मार्ग खुला रहता है।

स्त्री-पुरुष और सदाचार—

समाज व्यक्तियों और परिवारों का समूह है। समाज की व्यवस्था में आने वाला कोई भी परिवर्तन व्यक्तियों और परिवारों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। परिवार—स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध—समाज का केन्द्र है। समाज की आर्थिक अवस्था मनुष्यों को जिस अवस्था में रहने के लिये मजबूर करती है, उसी ढंग पर मनुष्य का परिवार ढलता है। कुछ देशों में परिवार बहुत बड़े-बड़े और सम्मिलित होते हैं, कुछ देशों में छोटे छोटे। कहीं परिवार पिता के वंश से होते हैं

और कहीं माता के वंश से *। स्त्री समाज की उत्पत्ति का स्रोत है, इसके साथ ही वह कई तरह से शारीरिक रूप में पुरुष से कमज़ोर भी है। इन सब बातों का प्रभाव समाज में स्त्री की स्थिति पर पड़ता है।

समाज जब बिलकुल आदि अवस्था में था और मनुष्य जंगलों में घूम फिरकर जंगली फलों और शिकार से पेट भर लिया करते थे उस समय समाज मातृसत्ताक था; सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार होता था, पुरुष तो शिकार लाने के कार्य में ही संलग्न रहता था।

जब मनुष्य खेती और पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, उस समय क़बीलों में भूमि के भाग या इस प्रकार की दूसरी [illegible] के लिये लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन लड़ाइयों में शारीरिक [illegible] स्त्री के कमज़ोर होने के कारण उसका अधिक महत्व नहीं था। इसके अलावा स्त्री को लड़ाई लड़ने के लिये आगे भेजना ख़तरे से ख़ाली न था। स्त्रियों के लड़ाई से मारे जाने या उनके क़ैदी होकर शत्रु के हाथ पड़ने से क़बीले में पैदा होने वाले पुरुषों की संख्या में घाटा पड़ जाता था और क़बीला कमज़ोर हो जाता था। इसलिये स्त्रियों को लड़ाई में पीछे रखा जाने लगा बल्कि सम्पत्ति की दूसरी वस्तुओं की तरह उनकी भी रक्षा की जाने लगी। सम्पत्ति की ही तरह उनका [illegible] भी किया जाता था। उस समय साधनों का विकास न हो सकने के कारण पैदावार के कामों में विशेष परिश्रम करना पड़ता था। स्त्री की अपेक्षा पुरुष पैदावार के कठिन काम को अधिक अच्छी तरह कर सकता था, इस-लिये स्त्री को पुरुष की प्रधानता मानकर उसकी [illegible]

---

* इतिहास बताता है पहले परिवार माता के वंश से [illegible] [illegible] व्यवस्थाओं के परिवर्तन से परिवार अब प्रायः पिता के वंश से [illegible] है। दक्षिण भारत में तथा उत्तर के [illegible] में अब भी [illegible] परि-वार माता के वंश से ही चलता है।

पड़ा। उस समय वैयक्तिक सम्पत्ति का चलन न था, इसलिये स्त्री सम्पूर्ण क़बीले या कुटुम्ब की साझी सम्पत्ति थी।

जब विकास से वैयक्तिक सम्पत्ति का काल आया, स्त्री भी पुरुष की वैयक्तिक सम्पत्ति बन गई। उसका काम पुरुष के घरेलू कामों को करना और सन्तान के रूप में उसके लिये उत्तराधिकारी पैदा करना था। परन्तु स्त्री दूसरे घरेलू पशुओं के ही समान उपयोग की वस्तु न बन सकी। पुरुष के समान ही उसका भी विकास होने के कारण, उसके भी पुरुष के समान ही मनुष्य होने के कारण, पुरुष की सम्पत्ति में ठीक पुरुष के बाद उसका दर्जा बना। आलंकारिक भाषा में इसे यों कहा गया—वैयक्तिक सम्पत्ति या परिवार के राज में पुरुष राजा है तो स्त्री मंत्री। जीव के विकास के नाते स्त्री और पुरुष में कुछ भी अन्तर नहीं। समाज की रक्षा के लिये वे दोनों एक समान आवश्यक है। पुरुष यदि शरीरिक बल में या मस्तिष्क के कामों में अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है, तो स्त्री का महत्व पुरुष को उत्पन्न करने में कम नहीं है। पुरुष समाज का जीवन स्त्री के बिना सम्भव नहीं, इसलिये पुरुष के आधीन होकर भी स्त्री उसके बराबर ही आसन पर बैठती रही।

स्त्री पुरुष में इतनी समानता होने पर भी वह आर्थिक दृष्टिकोण से जीवन के उपायों को प्राप्त करने के लिये पुरुष के आधीन रही। परिवार के हित के ख़्याल से पुरुष ने स्त्री को अपने वश में रखना आवश्यक समझा। जब तक समाज भूमि की उपज से या घरेलू धन्दों से, अपने जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त करता रहा, स्त्री की अवस्था परिवार और समाज में ऐसी ही रही। स्त्री की खोपड़ी में भी पुरुष की तरह सोचने विचारने और उपाय ढूँढ़ निकालने की सामर्थ्य है इसलिये पुरुष उसे गले में रस्सी बाँधकर नहीं रख सका। समाज के कल्याण और हित के विचार से स्त्री को भी पुरुष की तरह ही जिम्मेदार ठहराया

गया लेकिन स्त्री के व्यवहार पर ऐसे प्रतिबंध भी लगाये गये जोकि सम्पत्ति के आधार पर बने परिवार की रक्षा के लिये आवश्यक थे। उदाहरणतः स्त्री का एक समय एक ही पुरुष से सम्बन्ध रखना ताकि उसके दो व्यक्तियों की सम्पत्ति बनने से झगड़ा न उठे, समाज में सन्तान के बारे में झगड़ा न उठे कि सन्तान किसकी है, कौन पुरुष उस सन्तान का पोषण करेगा। यह सब ऐसे झगड़े थे जिनके कारण परिवारों का नाश हो जाता। इसलिये स्त्रियों के आचरण के बारे में ऐसे नियम बनाये गये कि झगड़े उत्पन्न न हों।

पतिव्रत धर्म—अर्थात् एक ही पुरुष से सम्बन्ध रखना—स्त्री का सबसे बड़ा धर्म बताया गया ताकि व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर बना हुआ समाज तहस-नहस न हो जाय। जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्त्री बुद्धि की दृष्टि से पुरुष के समान ही सामर्थ्यवान है, इसलिये पशुओं की तरह उसके गले में रस्सी बाँध देने से काम नहीं चल सकता था। उसे समझा कर और विश्वास दिलाकर समाज में मुख्य 'पुरुष' के हित के अनुसार चलाने की ज़रूरत थी। इस कारण पुरुष और समाज के हाथ में जितने भी साधन धर्म, नीति, रिवाज आदि के रूप में थे, उनसे स्त्री को पुरुष के आधीन होकर चलने की शिक्षा दी गई। उसे समझाया गया, यहाँ चाहे वह पुरुष का मुकाबिला भले ही करले परन्तु बाद में उसे पछताना पड़ेगा, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता भगवान की आज्ञा और धर्म विरुद्ध है।

औद्योगिक युग आने पर जब आर्थिक कारणों से सम्मिलित कुटुम्ब बिखर गये, जब पुरुषों को जीवन निर्वाह के लिये शहर-शहर भटकना पड़ा, उस समय सम्पूर्ण कुटुम्ब को साथ लिये फिरना सम्भव न रहा। मशीनों का विकास हो जाने से पैदावार के साधन ऐसे हो गये कि कठोर शारीरिक परिश्रम की ज़रूरत कम पड़ने लगी और स्त्रियाँ भी उन कामों को करने लगीं। बहुधा ऐसा भी हुआ कि जीवन के

लिये आवश्यक पदार्थों की संख्या बढ़ जाने से, जिसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि जीवन के मान का दर्जा ( Standard of living ) ऊँचा हो जाने से अकेले पुरुष की कमाई उसके परिवार के लिये काफ़ी न रही तब स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर मज़दूरी करने लगे और घर का ख़र्च चलाने लगे। इन अवस्थाओं में पुरुष का स्त्री पर वह अधिकार न रहा जो कृषि और घरेलू उद्योग धन्धों की प्रधानता के युग में था। जिस ऐतिहासिक विकास का ज़िक्र हम कर रहें हैं वह औद्योगिक विकास से हुआ। यह विकास योरुप में अधिक तेज़ी से हुआ इसलिये वहीं लोगों ने इसे अधिक उग्र रूप में अनुभव भी किया। इस विकास का प्रभाव समाज के रहन सहन के ढंग पर पड़ने से स्त्रियों की अवस्था पर भी पड़ा। स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के बराबर होने लगी। उन्हें भी पुरुषों के समान ही सामाजिक और राजनैतिक अधिकार मिलने लगे परन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा जारी रही क्योंकि वह पूँजीवाद के लिये आवश्यक थी। परिणाम स्वरूप स्त्री के एक पुरुष से बँधे रहने का नियम भी जारी रहा। अब स्त्री को पुरुष का दास न कहकर उसका साथी कहा गया। उसे उपदेश दिया गया कि परिवार की रक्षा के लिये उसे एक पुरुष के सिवा और किसी की ओर न देखना चाहिए। मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली में स्त्री की स्थिति इसी नियम पर है।

भारत में औद्योगिक विकास से होनेवाला परिवर्तन देर में आरम्भ हुआ, बल्कि आहिस्ता आहिस्ता हो रहा है। यहाँ स्त्रियों की अवस्था में उतना परिवर्तन नहीं हो पाया। इस देश में जन साधारण, ज़मीन्दार श्रेणी और पूँजीपति श्रेणी की स्त्रियाँ अभी पुरानी अवस्था में है परन्तु मध्यम श्रेणी की स्त्रियों की अवस्था पर आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव गहरा पड़ा है और उसमें परिवर्तन आ रहा है।

योरुप में पूँजीवाद पूर्ण विकास कर चुकने के बाद ठोकर खाने लगा

है। स्त्रियों की अवस्था, पुरुषों की अपेक्षा जीवन निर्वाह के संघर्ष में कम योग्य होने के कारण, पुरुषों से भी गई बीती है। बेकारी और जीवन निर्वाह की तंगी के कारण लोग ब्याह और परिवार पालने के झगड़े में नहीं फँसना चाहते। स्त्रियों के लिए घर बैठकर बच्चे पालने और निर्वाह के लिये रोटी कपड़ा पाते रहने का मौक़ा नहीं रहा। उन्हें भी मिलों, कारखानों, खानों, खेतों और दफ़्तरों में मज़दूरी कर पेट पालना पड़ता है। यदि विवाह हो जाता है तो माता बनने का उनका काम ज्यों त्यों निभ जाता है और वे फिर मज़दूरी करने चल देती हैं। यदि विवाह नहीं हुआ, शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वे माता बन गईं तो उनकी मुसीबत है। प्रसव की अवस्था में उनके निर्वाह का सवाल बहुत कठिन हो जाता है और प्रसव काल में ही स्त्री को सहायता की अधिक आवश्यकता रहती है। प्रसव काल में यदि वे काम पर नहीं जा सकतीं तो उनकी जीविका छूट जाती है और प्रसव काल के बाद जब उन्हें एक के बजाय दो जीवों की ज़रूरतें पूरी करनी पड़ती हैं, वे असहाय हो जाती हैं। इससे समाज में उत्पन्न होने वाली संतान के पोषण और अवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह समझ लेना कठिन नहीं।

स्त्रियों की इस अवस्था के कारण देश की जनता के स्वास्थ्य पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है, उसके कारण अनेक पूँजीवादी सरकारों ने स्त्रियों की रक्षा के लिये मज़दूरी सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हैं। इनके अनुसार प्रसव के समय स्त्रियों को तनख्वाह समेत छुट्टी मिलती है और बच्चा होने पर काम करते समय माँ को दूध आदि पिलाने की सुविधा भी देनी पड़ती है। इन क़ानूनी अड़चनों से बचने के लिए मिलें प्रायः विवाहित स्त्रियों को और ख़ास कर बच्चे वाली स्त्रियों को मिल में नौकरी देना पसन्द नहीं करतीं। योरप में ८० या ९० प्रतिशत लड़कियाँ विवाह से पहले किसी न किसी प्रकार की मज़दूरी या नौकरी

द्वारा अपना निर्वाह करती हैं या अपने परिवार को सहायता देती हैं परन्तु विवाह हो जाने पर उन्हें जीविका कमाने की सुविधा नहीं रहती। इन कारणों से स्त्रियाँ विवाह न करने या विवाह करने पर गर्भ गिरा देने के लिये मजबूर होती हैं। जीविका का कोई उपाय न मिलने से पुरुषों के क्षणिक आनन्द के लिये अपने शरीर को बेचकर पेट भरने के लिये उन्हें मजबूर होना पड़ता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति के आधार पर क़ायम पूँजीवादी समाज में स्त्री व्यक्ति की सम्पत्ति और मिल्कियत का केन्द्र है। वह या तो पुरुष के आधिपत्य में रह कर उसका वंश चलाने, उसके उपयोग-भोग में आने की वस्तु रहेगी या फिर आर्थिक संकट और बेकारी के शिकंजों में निचोड़े जाते समाज के तंग होते हुए दायरे से, अपनी शारीरिक निर्बलता के कारण—जिस गुण के कारण वह समाज को उत्पन्न कर सकती है—समाज में स्वतंत्र जीविका का स्थान न पाकर केवल पुरुष के शिकार की वस्तु बनती जायगी। साधनहीन ग़रीब और मध्यम श्रेणी की स्त्रियों की यही अवस्था है। साधन-सम्पन्न और अमीर श्रेणी की स्त्रियाँ यद्यपि भूख और ग़रीबी से नहीं तड़पतीं, परन्तु उनके जीवन में भी आत्मनिर्णय और विकास का द्वार बन्द है। समाज के लिये वे एक प्रकार से बोझ हैं क्योंकि वे जितना ख़र्च करती हैं, समाज के लिये उतना काम नहीं करतीं। संतान पैदा करने और पुरुष को रिझाने के सिवा वे प्रायः कुछ भी नहीं करतीं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ आदमस्मिथ ने इन स्त्रियों के विषय में लिखा है कि सम्पन्न श्रेणी की स्त्रियाँ उपयोगी न होकर केवल शोभा मात्र हैं।

मार्क्सवाद के विचार से स्त्रियों की यह अवस्था न स्त्रियों के विकास के लिये और न समाज की बेहतरी के लिये कल्याणकारी है। स्त्रियाँ भी पुरुषों की ही तरह मनुष्य हैं और उनके कंधों पर भी समाज का उत्तरदायित्व उतना ही है जितना कि पुरुषों के कंधे पर।

जब तक स्त्री का शारीरिक और मानसिक विकास स्वतंत्र रूप से न होगा, उसके द्वारा उत्पन्न संतान भी उन्नत न होगी। स्त्री को केवल उपयोग और भोग की वस्तु बना कर रखना मनुष्य के जन्म के स्रोत को बिगाड़ना है। समाज के सुख और वृद्धि के लिये स्त्रियों के मानसिक और शारीरिक विकास तथा समाज में स्त्रियों के समान अधिकार होने के लिये उन्हें भी पैदावार के कार्य में सहयोग देने का समान अवसर होना चाहिये। मार्क्सवाद स्वीकार करता है, सन्तान उत्पन्न करना न केवल स्त्री का बल्कि सम्पूर्ण समाज के सभी कामों में महत्वपूर्ण काम है; मनुष्य-समाज का अस्तित्व इसी पर निर्भर करता है। यह महत्व-पूर्ण कार्य ठीक रूप से होने के लिये परिस्थितयाँ अनुकूल होनी चाहिये। स्त्री को संतानोत्पत्ति मजबूर होकर या दूसरे के भोग का साधन बन कर न करनी पड़े, वह अपने आपको समाज का एक स्वतंत्र अंग समझ कर, अपनी इच्छा से संतान पैदा करे। संतान पैदा करने के लिये समाज की सभी स्त्रियों के लिये ऐसी परिस्थितियां होनी चाहिये जो माता और सन्तान के स्वास्थ्य के लिये अनुकूल हो। गर्भावस्था में स्त्री के लिये इस प्रकार की परिस्थितियाँ होनी चाहिये कि वह अपना स्वास्थ्य ठीक रख सके और स्वस्थ संतान को जन्म दे सके। पूँजीवादी समाज में साधनहीन तथा पूँजीपति दोनों ही श्रेणियों के लिये ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हैं। साधनहीन श्रेणी की स्त्रियों को गर्भावस्था में उचित से अधिक परिश्रम करना पड़ता है और पूँजीवादी स्त्रियाँ भी निकम्मी बिलकुल निष्क्रिय रहने के कारण स्वस्थ संतान पैदा नहीं कर सकतीं।

पुरुष को प्रधान और स्त्री को केवल साधन बना देना उसे स्वीकार नहीं। पूँजीवादी समाज में स्त्री माता बनने के कार्य के कारण पुरुष (क्योंकि पुरुष जीविका कमा कर लाता है) के सामने आत्मसर्पण करने के लिये मज़बूर होजाती है। समाजवाद में स्त्री के गर्भवती होने से प्रसवकाल और उसके बाद जब तक वह फिर परिश्रम योग्य न हो जाय, स्त्री की आवश्यकताओं की पूर्ति और स्वास्थ्य की देख भाल की जिम्मेवारी समाज पर होगी। प्रसव से दो ढाई मास पूर्व से लेकर प्रसव के एक मास पश्चात् तक वह समाज के ख़र्च पर रहेगी। संतान पैदा होने के बाद समाज जो काम उसे करने के लिये देगा, उसमें बच्चे की देख भाल का समय और सुविधा भी उसे देगा। बच्चे के पालने, पोसने और शिक्षा की ज़िम्मेदारी भी ग़रीब स्त्री के ही कंधों पर नहीं समाज के सिर होगी। इस प्रकार संतान पैदा करना स्त्री के लिये भय और मुसीबत का कारण न होकर उत्साह और प्रसन्नता का विषय होगा।

अनेक पूँजीवादी शंका करते हैं, मार्क्सवाद में स्त्री को स्वतंत्र कर निराश्रय बना दिया जायगा, स्त्री पर से एक पुरुष का बंधन हटा उसे समाज की साझी सम्पत्ति बना दिया जायगा। इससे अनाचार और व्यभिचार फैलेगा और मनुष्य पशुओं जैसा व्यवहार करने लगेंगे। मार्क्सवाद स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को पुरुष की सम्पत्ति और धर्म के भय से जकड़ देने के पक्ष में नहीं। वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को स्त्री-पुरुष की प्राकृतिक आवश्यकता का सम्बन्ध मानता है। इसके लिये वह दोनों में से एक दूसरे का दास बन जाना आवश्यक नहीं समझता। इसके साथ ही वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में उच्छृखंलता भी उचित नहीं समझता। किसी स्त्री या पुरुष का दूसरों के शारीरिक भोग के लिये अपने शरीर को किराये पर चढ़ाना वह अपराध समझता है। समाजवादी समाज में जीविका के साधन अपनी योग्यता और अवसर के अनुसार सभी को प्राप्त होंगे, इसलिये जीविका के लिये

व्यभिचार से धन कमाने की आवश्यकता हो नहीं सकती। जो लोग पूँजीवादी समाज के संस्कारों के कारण ऐसा करेंगे वे अपराधी होंगे। संक्षेप में स्त्री-पुरुष और विवाह के सम्बन्ध में मार्क्सवाद समाज के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के विचार से पूर्ण स्वतंत्रता देता है परन्तु उच्छृंखलता और गड़बड़ या भोग को पेशा बना लेने को और इसके साथ अपनी वासना के लिये दूसरे व्यक्तियों और समाज की जीवन व्यवस्था में अड़चन डालने को वह भयंकर अपराध समझता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का रुख लेनिन की एक बात से स्पष्ट हो जाता है। लेनिन ने कहा था:—स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर की दूसरी आवश्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही आवश्यक है। इसमें मनुष्य को स्वतंत्रता होनी चाहिये परन्तु प्यास लगने पर शहर की गन्दी नाली में मुँह डालकर पानी पीना उचित नहीं। उचित है, स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीना। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मनुष्यों की शारीरिक, मानसिक तुष्टि और समाज की रक्षा के लिये होना चाहिये न कि स्त्री-पुरुषों को रोग और कलह का घर बना देने के लिये। अब तक के पारिवारिक और विवाह सम्बन्धी बन्धन पूँजीवादी आर्थिक संगठन पर क़ायम हैं जिनमें स्त्री का निरंतर शोषण होता रहा है। समाज में स्त्री पुरुष की समानता के लिये उचित परिवर्तन की आवश्यकता है।

—

# मार्क्सवाद तथा दूसरे राजनैतिकवाद

औद्योगिक उन्नति से पूँजीवाद का पूरा विकास हो जाने पर समाज के पूँजीवादी संगठन में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई हैं कि व्यवस्था बदले बिना समाज का निर्वाह होना कठिन हो गया है। उदाहरणतः— पूँजीवाद द्वारा पैदावार को बढ़ाने और अधिक जन संख्या को जीवन निर्वाह के पदार्थ अधिक परिमाण में पहुँचाने की जगह पूँजीवाद ने अपना दायरा कम करना शुरू कर दिया। पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिये जनता की बड़ी संख्या को पैदावार के काम से जुदा करना शुरू किया गया। बेकारी फैलने लगी और बड़ी जन संख्या के लिये समाज के पैदावार और खपत के दायरे में स्थान न रहा। पूँजीवाद ने अपने विकास से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दीं कि मज़दूर और किसानों की ऐसी संगठित शक्ति ने जन्म लिया जो पूँजीवादी विधान को हटा दूसरा विधान ( समाजवादी विधान ) क़ायम करने के प्रयत्न कर रही है।

संसार के किसानों और मज़दूरों का यह आंदोलन मार्क्सवाद के सिद्धांतों की नींव पर समाजवादी आंदोलन की लहर के रूप में समाज में उठ खड़ा हुआ है।

परन्तु पूँजीवादी विधान जिसकी जड़ें गहरी फैली हुई हैं, अनेक श्रेणियों का हित जिसके पक्ष में है, और समाज के मौजूदा संस्कार जिसकी उपज हैं, सरलता से नहीं बदल दिया जा सकता। पूँजीवाद की शक्ति जो पहले अपने फैलाव और विस्तार में लग रही थी, अब आत्म रक्षा में लग रही है। श्रेणियों का संघर्ष जो मार्क्सवाद के अनुसार समाज के ऐतिहासिक क्रम का आधार है, समाज के इस परिवर्तन काल में उग्र रूप धारण कर प्रकट हो रहा है। जिस प्रकार समाज के सर्वहारा, या साधनहीन लोगों—मज़दूर किसानों (Proletariat) का आन्दो-

धारायें निकलीं हैं, उनमें मेज़र सी० एच० डग्लस का सिद्धांत सबसे नवीन है। डग्लस और उसके अनुयायी पूँजीवाद में मौजूद आर्थिक संकट, जैसे, पूँजीवाद में पर्याप्त पैदावार की सामर्थ्य होने पर भी पैदावार न करना और पैदावार कम करने के लिये लोगों को बेकार कर खपत को घटा देना आदि संकटों को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु इन सब संकटों को दूर करने के लिये वे पूँजीवादी प्रथा और वैयक्तिक सम्पत्ति और मुनाफ़ा कमाने की प्रणाली को हटाना ज़रूरी नहीं समझते। डग्लस और उसके अनुयाइयों का दावा है, पूँजीवादी प्रणाली में परिवर्तन किये बिना ही 'राष्ट्रीय-साख' के बल पर पैदावार के काम को जारी रखा और बढ़ाया जा सकता है जिससे बेकारी दूर कर ख़रीदने वाली मज़दूर किसान जनता की ख़रीदने की शक्ति को बढ़ा कर पैदावार को निरंतर बाज़ारों में बेचा जा सकता है और नई पैदावार की माँग पैदा की जा सकती है।

डग्लस का 'राष्ट्रीय-साख' का सिद्धान्त ( Social credit theory ) यह है:—व्यवसायी लोग बैंकों से पूँजी लेकर कारोबार में लगते हैं। बैंक से ली गई पूँजी का प्रधान भाग लगता है, मशीनों और इमारतों की क़ीमत पर और एक छोटा-सा भाग ख़र्च होता है तैयार होने वाले सामान पर जो बाज़ारों में जाता है। व्यवसायी को बैंक से उधार ली हुई सम्पूर्ण पूँजी बैंक को लौटा देनी पड़ती है। इसलिये वह बैंक से पूँजी लेकर तैयार किये सामान की बाज़ार से इतनी क़ीमत लेता है कि उसमें मशीनरी और इमारतों पर लगाये गये मूल्य के साथ ही बैंक का कर्ज़ा और सूद पूरा हो जाय। व्यवसायी के इस काम का परिणाम यह होता है कि बैंक से उधार लेकर जितना धन बाज़ार में लाया गया था, उससे कहीं अधिक धन वह बाज़ार से खींच लेता है, इससे वह बैंक का कर्ज़ा चुका देने के बाद बहुतसा धन मशीनरी और इमारत के रूप में बचा लेता है। यह सब धन ख़रीददारों की जेब से आता है।

इस प्रकार बाजार में कम धन जाकर बाज़ार से अधिक धन खींचे जाने का परिणाम होता है कि बाज़ार में ख़रीद फ़रोख़्त के लिये धन की कमी होती जाती है और बाज़ार में बिक्री कम होकर माँग कम हो जाती है, परिणाम में पैदावार को कम करने की आवश्यकता मालूम होने लगती है। पैदावार कम करने के प्रयत्न से बेकारी बढ़ती है और बढ़ी हुई बेकारी पैदावार को और कम करने के लिये मजबूर करती है।

इंग्लस का विचार है कि सब विपत्ति का कारण बाज़ार से धन का खिंच खिंच कर बैंकों में जमा होते जाना और जनता की जेब खाली होते जाना है, मार्क्सवादी इसे मुनाफ़ा कमाने की स्वतंत्रता ही कहेंगे। इसका उपाय इंग्लस के विचार में यह है कि बैंक अपने कर्ज़ वापस न लें और व्यवसायी लोग बाजार से इतना अधिक मुनाफ़ा न लें। मज़दूरों को मज़दूरी अधिक मिले ताकि इन लोगों की ख़रीद फ़रोख़्त की ताक़त बढ़े। बैंक जो रुपया व्यवसायियों को कर्ज़ दें, वह सरकार या राष्ट्र की जिम्मेदारी पर हो। बैंकों में इस समय पूँजी की कमी नहीं बल्कि पूँजी को लगाने के लिये लिये लाभ मुनाफ़े के व्यवसाय नहीं मिलते। राष्ट्र पैदावार की वृद्धि के लिये व्यवसायियों को जितना आवश्यक हो धन दे सकता है इसमें किसी आपत्ति की ही शंका नहीं, क्योंकि सरकार कागज़ के सिक्के (नोटों) के रूप में जितना धन चाहे तैयार कर सकती है। इस प्रकार सरकार की साख और जिम्मेदारी पर बैंकों का धन या पूँजीपतियों की पूँजी व्यवसाय और पैदावार में लगकर मज़दूरी के रूप में लगातार बाज़ार में जाती रहेगी और समाज में पैदावार और समाज में पैदावार और ख़रीद फ़रोख़्त (लेनदेन) की मशीन चलती रहेगी। इंग्लस इस उपाय से समाज के आने वाले आर्थिक संकट से बचने का उपाय भी देखता है और इसके साथ ही पूँजीवादी प्रणाली और निजी सम्पत्ति की प्रथा को भी दूर करने की ज़रूरत नहीं।

राष्ट्रीय-साख की इस आयोजना में कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो व्यवसाइयों को आसानी से पूँजी प्राप्त होने पर पैदावार करने वाले व्यवसायों की संख्या एकदम बढ़ जायगी। मज़दूरों की जेब में भी एकदम से रुपया आने लगेगा, परन्तु पैदावार उतनी जल्दी न बढ़ पायेगी। बहुत शीघ्र ही जनता की जेब में मौजूद रुपये की तादाद बाज़ार में मौजूद वस्तुओं से बहुत अधिक बढ़ जायगी और अन्त में चीज़ों का दाम रुपये के रूप में बहुत बढ़ जाने से रुपये का मोल घट जायगा। जिस पदार्थ के लिये पहले एक रुपया देना पड़ता था, उसके लिये दस देने पड़ेंगे। ऐसी अवस्था में दस रुपये की उपयोगिता पहले समय के एक रुपये के ही बराबर होगी। ऐसी अवस्था में आम जनता को लाभ तो कोई न होगा अलबत्ता सरकार की साख गिर जायगी। *

डग्लस-आयोजना यह तो स्वीकार करती है कि पैदावार घटाने और बेकारी फैलाने का कारण पूँजीपतियों द्वारा मुनाफ़ा कमाने की कोशिश है। परन्तु मुनाफ़ा कमाने पर वह कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहती। सरकार द्वारा व्यवसाइयों को व्यवसाय के लिये पूँजी देने का अर्थ यह होगा कि उद्योगधन्धों और व्यापार में अस्थायी तौर पर ख़ूब बढ़ती हो जायगी। इस व्यापार और व्यवसाय में पूँजीपतियों और व्यवसाइयों का बुनियादी उद्देश्य मुनाफ़ा कमाना रहेगा और आपस में स्पर्धा से पूँजीपति मुकाबिला कर एक दूसरे से अधिक मुनाफ़ा कमाने का यत्न करते ही रहेंगे। इसका परिणाम होगा कि पूँजीपति लोग राष्ट्र की साख और पूँजी से अपने स्वार्थ का खेल खेलेंगे। पूँजीपति जब एक दूसरे को असफल कर अपनी वृद्धि करेंगे, तो स्वाभाविक

---

* जैसा कि भारत सरकार के अधिक नोट छाप देने से सन् १९४२ और १९४३ में हुआ। १९४४ के अंत में देश में रुपये का प्रमाण चौगुने से अधिक हो गया और पैदावार केवल २०% बढ़ सकी।

ही अनेक व्यवसायों और उद्योगों का दिवाला निकल जायगा, और उन व्यवसायों और उद्योग धंधों में लगा समाज का परिश्रम व्यर्थ जायगा। क्योंकि जो व्यवसाय जितने बड़े होंगे, वे प्रतिशत कम मुनाफ़े पर भी अधिक लाभ उठाकर छोटे व्यवसायों को समाप्त कर देंगे।

डगलस आयोजना के समर्थकों का का दावा है कि वे गरीब—साधनहीन और पूँजीपति दोनों श्रेणियों की भलाई चाहते हैं और समाज की मौजूदा व्यवस्था में पैदावार कम करने के कारणों और बेकारी को दूर कर समृद्धि लाना चाहते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि इस आयोजना के अनुसार समाज की साख और शक्ति पूँजी-पतियों के हाथ का खिलौना बन जायगी। समाज या सरकार का धन और साख जो परिश्रम करने वाली श्रेणियों के परिश्रम से पैदा होती है मुनाफ़ा खाने वाली श्रेणियों के हाथ में रहेगी, क्योंकि मुनाफ़ा कमाने का क़ायदा क़ायम रहेगा। इस अवस्था में जितना अधिक धन बाज़ार में आयगा पूँजीपति को उतना ही अधिक मुनाफ़ा होगा और यह रुपया फिर बाज़ार से हटकर पूँजीपति की तिजोरी में बन्द हो जायगा।

यदि कहा जाय कि डगलस आयोजना के अनुसार मुनाफ़े का भाग बिलकुल घटा दिया जायगा तो इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि सभी उद्योग एक ही दर्जे पर नहीं हैं। कुछ व्यवसायों की स्थिति इस प्रकार की है कि वे दूसरे व्यवसायों के दाम पर अपना माल बेच-कर भी काफ़ी मुनाफ़ा उठा सकते हैं। आये दिन इन लोगों का कारो-बार बढ़कर दूसरे पूंजीपतियों के व्यवसायों और उनमें काम करने वाले मज़दूरों को मटियामेट कर देगा।

आज के आर्थिक संकट में यदि व्यवसायी और कल-कारखाने वाले बैंकों के नियंत्रण से परेशान हैं और अपना काम चलाने के लिये सरकारी साख से लाभ उठाना चाहते हैं तो वह इन्हीं लोगों के हाथ

में पूँजी जमा हो जाने पर यह अपनी पूँजी से जो खेल चाहेंगे, और इन्हें सरकार की साख की ज़रूरत न रहेगी। आज भी तो ऐसे पूँजी-पति हैं जिन्हें सरकारी साख की ज़रूरत नहीं। स्वयम् पूँजीवादी न्याय की धारणा से यह बात उचित नहीं जान पड़ती कि बैंकों के मालिक अपनी पूँजी को जैसे चाहें वैसे इस्तेमाल न कर सकें, परन्तु कल-कारखानों के मालिक उसे जिस प्रकार चाहें व्यवहार में ला सकें।

डग्लस आयोजना से पूँजीवाद की अंतर्राष्ट्रीय कलह दूर करने का भी उपाय नहीं हो सकता बल्कि इस आयोजना से यह झगड़ा अधिक उग्ररूप धारण कर सकता है, क्योंकि किसी भी राष्ट्र के व्यापारी जब अपने राष्ट्र की साख और सम्पत्ति के सहारे अपने देश की जनता को मज़दूरी देने के लिये अपने सौदे से दूसरे देशों के बाज़ारों पर आक्रमण करेंगे उस समय उनके राष्ट्र की शक्ति को उनकी रक्षा के लिये दूसरे राष्ट्रों से झगड़ा मोल लेना ही पड़ेगा।

डग्लस आयोजना का अधिक से अधिक परिणाम यह हो सकता है कि वह कुछ समय के लिये बाज़ार को तेज़ कर कुछ नये पूँजीपति खड़े करने के बाद बेजान हो जाय। परिश्रम करनेवाली श्रेणी को अपनी अवस्था सुधारने और अपने भाग्य का स्वयम् मालिक होने का अधिकार इस आयोजना से नहीं मिल सकता। डग्लसवादियों का कहना है कि इनकी आयोजना से समाज में पैदा होनेवाली सम्पत्ति का बँटवारा साधनहीन श्रेणियों में अधिक अच्छी तरह होगा, क्योंकि वे मज़दूरी अधिक देने और मुनाफ़ा कम लेने का समर्थन करते हैं। मार्क्सवादियों की दृष्टि में यह बात निरर्थक है। उनका कहना है कि बँटवारा होता है स्वामित्व के आधार पर। पैदावार का बँटवारा सामाजिक हित के अनुकूल हो, परन्तु सम्पत्ति रहे पूँजीपतियों के हाथ में, यह सम्भव नहीं। समाज में समान रूप से बँटवारा होने के लिये यह जरूरी है कि पैदावार के साधन भी समाज के हाथ में रहें।

## राष्ट्रीय पुनःसंगठन—

( N. R. A. of America )

अमेरिका में पूँजीवाद का विकास सभी देशों की अपेक्षा बहुत अधिक और बहुत तेज़ी से हुआ है। अमेरिका की पैदावार की शक्ति और पूँजी दूसरे देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है। अपनी पैदावार की शक्ति के भरोसे पिछले महायुद्ध में अमेरिका ने योरुप के राष्ट्रों को अपनी पूँजी के जाल में बाँध लिया था। पिछले युद्ध के बाद जब योरुप के देश परस्पर महानाश का खेल-खेलकर अपने पैदावार के साधनों को कुछ समय के लिये बेकाम कर चुके थे, अमेरिका को अपनी पूँजीवादी पैदावार की रफ़्तार को बढ़ाने का मौका मिला और वास्तव में उस समय अमेरिका अकेला संसार भर के बाज़ारों की माँग पूरी कर रहा था *। परन्तु योरुप के देशों के सँभलने के बाद अमेरिका के बाज़ारों का ज़ोर कम होने लगा। अमेरिका के पूँजीपतियों ने पैदावार कम करनी शुरू की और वहाँ भयंकर बेकारी से त्राहि त्राहि मच गई। एक ओर पैदावार के साधन खूब उन्नति कर चुके थे दूसरी ओर बेकारी भी खूब बढ़ गई। पदार्थों के दाम बहुत घट जाने पर भी जेब में पैसा न होने के कारण जनता उन्हें ख़रीद न सकती थी। पूंजीपति अपनी फ़ालतू पूँजी का अपने देश में कोई उपयोग न देख उसे विदेशों में लगाने लगे। उस समय अमेरिका की अवस्था का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि बेकारों की संख्या वहाँ १,५०,००,००० तक पहुँच गई। जब कि अमेरिका की जनसंख्या केवल ग्यारह करोड़ के लगभग थी।

इस समय भी अमेरिका के कुछ पूँजीवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की दुहाई दे इसी बात की पुकार लगा रहे हैं कि व्यापार और व्यवसाय को

---

* मिसाल के तौर पर [illegible] मशीनें पैदावार को कितना बढ़ा सकती हैं, इस बात के लिये अमेरिका बहुत अच्छा उदाहरण है।

स्वयम अपना रास्ता तै करने दिया जाय (Laissez Faire) व्यक्तियों की आर्थिक स्वतंत्रता में दखल देना ठीक नहीं। यही समय था जब अमेरिका के नये प्रेज़ीडेण्ट के चुनाव का समय आ गया। अमेरिका में प्रेज़ीडेण्ट का चुनाव इस बात को प्रकट कर देता है कि राष्ट्र किस नीति का समर्थन करता है। जब सन् १६३२ में नये प्रेज़ीडेण्ट के चुनाव का प्रश्न आया, इस पद के लिये दो उमीदवार थे और राष्ट्र के सामने उस भयंकर आर्थिक संकट का हल करने के लिये भी दो नीतियाँ थी। एक उम्मीदवार मि० हूवर थे जो व्यापार के मार्ग और पूँजीपतियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई बन्धन नही लगाना चाहते थे। उनका विश्वास था, अवस्था स्वयम ही सुधरेगी ; इसे छेड़ना न चाहिये। दूसरे उमीदवार मि० फ्रैंकलिन रुज़वेल्ट थे जो राष्ट्र की आर्थिक नीति में परिवर्तन किये बिना राष्ट्र की रक्षा का कोई उपाय नहीं देखते थे। रुज़वेल्ट ने कहा, हमारी आर्थिक व्यवस्था के ताश का खेल बिलकुल बिगड़ गया है, अब गड्डी को नये सिरे से पीसना ( a new deal ) ज़रूरी है। रूज़वेल्ट ने जो नया आर्थिक कार्यक्रम राष्ट्र के सामने रखा उसके विषय में लोगों की राय थी कि इसे समाजवाद की ओर पहला क़दम या पूँजीवाद की रक्षा का अन्तिम प्रयत्न कहा जा सकता है *। वास्तव में क्या बात ठीक थीं ? यदि रूज़वेल्ट की नीति उस समय अमल में न लाई जाती तो अमेरिका में क्रान्ति का प्रयत्न हुए बिना न रहता। यह कहना ठीक ही है कि रुज़वेल्ट की नीति ने अमेरिका को पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न हो गई कठिन परिस्थिति से बचा दिया।

हम ऊपर कह आये हैं, उस समय अमेरिका में बेकारों की संख्या १,५०,००,००० तक पहुँच गई थी। इतने आदमियों के बेकार होजाने से बाज़ारों की माँग भी बेहद घट गई। बेकारी और अधिक तेजी से

* The first step towards socialism or the last stand of capitalism.

बढ़ रही थी। इसका एक उपाय था काम पर लगे मज़दूरों की मज़दूरी कम किये बिना उनसे कम घण्टे काम कराया जाय और शेष घण्टों में काम करने के लिये बेकार मज़दूरों को पूरी मज़दूरी पर लगाया जाय। रूज़वेल्ट की इस नीति का विरोध अमेरिका के पूँजीपतियों ने पूर्ण शक्ति से किया, परन्तु आर्थिक संकट से व्याकुल जनता को रूज़वेल्ट पर विश्वास था और उसकी आयोजना कांग्रेस ने पास कर दी। इस आयोजना का नाम—राष्ट्रीय पुनः संगठन विधान (National Recovery Act-N. R. A.) था इस आयोजना में मुख्य बातें ये था :—

"सब मज़दूरों के लिये—सिवा उनके जो अभी काम सीख रहे हैं या छुट्टा काम करते हैं—कम से कम मज़दूरी निश्चित कर दी जाय और यह मज़दूरी अमेरिका के दक्षिणी भागों में दस डालर और उत्तरी भाग में ग्यारह डालर * प्रति सप्ताह होनी चाहिए।

"किसी मज़दूर या मिल के नौकर को एक सप्ताह में चालीस घण्टे से अधिक काम न करने दिया जाय। †

"कोई मिल या कारखाना सप्ताह में अस्सी घण्टे से अधिक काम न करे।

"मज़दूरों को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे अपना श्रेणी संगठन कर सकें और अपनी मज़दूरी आदि के लिये मालिकों से अपने संगठन के प्रतिनिधियों द्वारा भाव तोल कर सकें।"

अमेरिका के मज़दूरों ने भी अपनी तज्वीज़ इस आर्थिक संकट को दूर करने के लिये पेश की। उनकी तज्वीज़ भी यही थी : [illegible],

---

* एक डालर लगभग तीन रुपये के होता है। पर अनुपात बदलता रहता है।

† कुछ खास कामों, जैसे मैनेजर, चौकीदार या इस तरह के दूसरे कामों को छोड़कर।

केवल मज़दूरी के दर में। आयोजना में कम से कम मज़दूरी निश्चित की गई थी दस और ग्यारह डालर प्रति सप्ताह। मज़दूर चाहते थे इक-तीस और सत्ताइस डालर तक। मज़दूरों का कहना था, एक मामूली मज़दूर परिवार का निर्वाह, स्वास्थ्य के लिये आवश्यक वस्तुओं और मनुष्यों की तरह निर्वाह करने के लिये उनके द्वारा माँगी गयी मज़दूरी से कम में नहीं हो सकता। कुछ सुधारों के बाद मज़दूरों की साप्ताहिक मज़दूरी कम से कम बारह डालर पर और काम के घण्टे प्रति सप्ताह तीस निश्चित करके इस आयोजना को आरम्भ किया गया।

इसके साथ ही खेती के पुनः संगठन की आयोजना (A.A,A.*) भी की गई जिसमें खेती की उपज के पदार्थों का मूल्य बढ़ाने और उपज घटाने के लिये सरकार ने हज़ारों बीघा ज़मीन स्वयम् लगान पर ले खाली छोड़ दी और ख़ास ख़ास परिणाम में ही फ़सलें पैदा करने के लिये प्रतिबन्ध लगा दिये।

अमेरिका के राष्ट्रीय औद्योगिक पुनः संगठन और खेती के पुनः संगठन को जब मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखते हैं तो पहला प्रश्न खेती की उपज के दाम बढ़ाने पर उठता है। निस्संदेह इससे पैदावार करने वाले किसान को तो कुछ लाभ हुआ, परन्तु यह बढ़ा हुआ दाम दिया किसने? स्पष्ट है—ग़रीब और बेकार मज़दूरों ने! जिनके पास निर्वाह के लिये पर्याप्त दाम पहले ही न थे। अमीरों को भोजन का दाम बढ़ने से कोई संकट अनुभव न हो सकता था। दूसरा सवाल उठता है—सरकार ने जो लाखों बीघा ज़मीन लगान पर लेकर खाली छोड़ दी उसके लिये रक़म कहाँ से आई? स्पष्ट है—पैदावार पर टैक्स लगाकर यह रक़म वसूल की गई और यह टैक्स भी ग़रीब जनता को ही भरना पड़ा जिन्हें भोजन भी महँगा ख़रीदना पड़ा।

---

* Agricultural Adjustment Act.

यही बात औद्योगिक पैदावार के क्षेत्र में भी हुई। पूँजीपति अपनी पूँजी नक़द रुपये के रूप में नहीं रखते, वह रहती है पैदावार के साधनों, मिलों मशीनों, भूमि या मकानों के रूप में या कच्चे माल के रूप में। जब कीमतें बढ़ा दी जायँगी तो उसका असर पड़ेगा केवल उन लोगों पर जो अपने निर्वाह की वस्तुयें प्रतिदिन बाज़ार से ख़रीद कर गुजारा करते हैं। जब मज़दूर को चीज़ें महँगी मिलेंगी और उसकी मज़दूरी में उतनी बढ़ती नहीं होगी तो मज़दूर निर्वाह के लिये कम पदार्थ ख़रीद सकेगा—उसका कष्ट बढ़ जायगा। परन्तु पूँजीपति को इससे फ़ायदा होगा क्योंकि उसकी पैदावार या माल का मूल्य उसे पहले से अधिक मिलेगा और मजदूरी उसे उतनी अधिक न देनी पड़ेगी जितना कि दाम बढ़ेगा। परिणाम में उसे अपने माल पर पहले से अधिक लाभ होगा। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि उसे अपना माल तैयार करने के लिये मज़दूरी के रूप में जितना ख़र्च पहले करना पड़ता था अब उससे कम करना पड़ेगा और मुनाफ़े की गुंजाइश अधिक होगी। इस प्रकार अपना माल उसे दूसरे देशों में बेचने में आसानी होगी। पूँजीवादी अपने माल को अपने देश में बढ़ी हुई कीमत पर बेचकर मज़दूर को किसी कदर बढ़ी हुई मजदूरी में दिया गया धन वापिस ले ही लेगा, इसके अलावा विदेश में वह अपना माल सस्ता बेच सकेगा। जिस प्रकार आज जापान और इंगलैंड कर रहे हैं।

अमेरिका में बेकारी को घटाने और श्रमिकों की ख़रीदने की शक्ति को बढ़ाकर आर्थिक अवस्था में सुधार लाने से इस प्रकार का जो परिणाम हुआ वह आगे दिये अंकों से प्रकट होगा। अमेरिका के इस पुनः संगठन का कार्यक्रम था खेती की तथा दूसरी पैदावार को [illegible]। मार्क्सवादी प्रश्न करते हैं, क्या अमेरिका में पैदावार [illegible] इतनी अधिक थी कि अमेरिका की जनता की [illegible] आवश्यकतायें पूरी हो जाने के बाद भी वह बची रहती? क्या फिर [illegible] के दूसरे देशों में

भी उस पैदावार की ज़रूरत नहीं थी ? यह कहना सम्भव नहीं कि पैदावार वास्तव में आवश्यकता से अधिक थी। फिर भी पैदावार को घटाने या नष्ट करने * का मतलब जनता का लाभ नहीं बल्कि पैदावार के मालिक पूँजीपतियों और अमेरिका के बड़े-बड़े ज़मींदारों का ही लाभ था।

इस आयोजना का दूसरा उद्देश्य मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ाकर उनकी ख़रीद सकने की ताकत बढ़ाना था। इस उद्देश्य में कितनी सफलता मिली, इसका अन्दाज़ा अमेरिका के व्यवसाय की रिपोर्ट के आँकड़ोंसे लग सकता है। इस संगठन के बाद अमेरिका की पैदावार में 31% की वृद्धि प्रति सप्ताह हुई लेकिन मज़दूरों को दिये जानेवाले धन में केवल 6½% से 9¾% 10% की वृद्धि हुई। इसका स्पष्ट अर्थ है पैदावार में वृद्धि होने से धन मज़दूरों के पास नहीं बल्कि पूँजीपतियों की जेब में गया। यह बढ़ी हुई पैदावार कहाँ गई ? अमेरिका से बाहर जाने वाले माल की रिपोर्ट देखने से यह पता लग जाता है। इस समय में अमेरिका से विदेश जाने वाले माल में 24% से 32% तक बढ़ती हुई। बेकारों की संख्या की रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि जिस समय यह आयोजना आरम्भ हुई उस समय अमेरिका में बेकारों की संख्या १,५०००,००० थी। काम के घण्टे वग़ैरा घटाकर या नये व्यवसाय शुरू होने पर १८,२०,००० आदमियों को स्थायी काम मिला और प्रायः ४६,००,००० को अस्थायी।

मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ाने से उन्हें जो लाभ हुआ वह भी रिपोर्ट के अंकों से मालूम होजाता है। मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ाई गई लगभग ३% और पदार्थों के मूल्य में बढ़ती हो गई ५% की। इससे मज़दूर को २% का घाटा ही रहा। इससे मज़दूरों की अवस्था में सुधार होकर

---

* अमेरिका की इस आयोजना से लाखों मन अनाज समुद्र में फेंक दिया गया या ईंधन की जगह भट्ठियों में जला डाला गया।

पूँजीवादी प्रणाली विकास अपने मार्ग में स्वयम् रुकावटें पैदा कर देता है।

अमेरिका की 'राष्ट्रीय पुनः संगठन आयोजना ने यह बात स्पष्ट कर दी कि पूँजीवादी प्रणाली का यह सिद्धांत कि व्यापार और व्यवसाय में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, मुनाफ़ा कमाने की होड़ में किसी प्रकार का प्रतिबंध न होना चाहिए, पूँजीवाद द्वारा पैदा की गई कठिनाइयों में लागू नहीं हो सकता। सरकार को जिसके कि हाथ में समाज के शासन की शक्ति है, आर्थिक व्यवस्था में दखल देना ही पड़ेगा और समाज की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ जाने से बचाने के लिये विधान तैयार करना ही होगा। प्रश्न उठता है, यह विधान तैयार कौन करेगा? पूँजीवादी प्रणाली में शासन करने वाली पूँजीपति श्रेणी या समाज का वह अंग जिसकी संख्या हज़ार में से नौ सौ निन्यानवे हैं। साधनहीन किसान और मज़दूर आर्थिक विधान समाज की जिस श्रेणी के हाथ में रहेगा, उसी के हित के अनुकूल चलेगा। अमेरिका में यह विधान पूँजीपति श्रेणी के हाथ में रहने का परिणाम सामने आ गया। पूँजीवादी प्रणाली ने समाज की आर्थिक अवस्था को इस हालत में पहुँचा दिया है कि व्यक्तिगत लाभ की स्वतंत्रता से उसका काम चल नहीं सकता, उस पर नियंत्रण आवश्यक होगया है। वह नियंत्रण पूँजीपति श्रेणी के ही हित की रक्षा के लिये होना चाहिए या समाज के शेष भाग अर्थात् पैदावार के लिये मेहनत करनेवालों के हित की रक्षा के लिये भी, यह विचार का विषय है। पूँजीपति श्रेणी का नियंत्रण फासिज़्म और नाजिज़्म के रूप में और मज़दूर-किसानों का नियंत्रण समाजवाद या कम्यूनिज़्म के रूप में प्रकट होगा।

नाज़ीवाद और फ़ेसिस्टवाद—

पिछले बीस वर्ष से पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में इस प्रकार की कठिनाइयाँ आ रही हैं कि समाज की आर्थिक व्यवस्था पर समाज की

प्रकार की शान्ति को न तो हम सम्भव समझते हैं और न उपयोगी ही। शान्ति की इच्छा को हम त्याग और कायरता के कारण पैदा होने वाली भावना समझते हैं। मनुष्य समाज को उसके ऊँचे आदर्श और विकास की ओर युद्ध ही ले जा सकता है। युद्ध ही मनुष्य में शक्ति और आचारबल को उत्पन्न करता है।...जो सिद्धान्त युद्ध का विरोध कर शान्ति का प्रचार करते हैं, वे सब फैसिज़्म के विरोधी हैं।"

नाज़िज़्म के कार्यक्रम और उद्देश्य की व्याख्या करते हुए हिटलर कहता है "....आज जिस भूमि पर हम जमे हैं, वह भूमि हमें देवताओं ने वरदान के रूप में नहीं दी है न दूसरी जातियों ने हमें इस भूमि का दान दिया है! हमारे बुज़ुर्गों ने भूमि के इस टुकड़े के लिये जान जोख़िम में डालकर युद्ध किया है और इसे तलवार के बल पर जीता है......जीवन का यही मार्ग है।"

मुसोलिनी और हिटलर के शब्दों में फैसिज्म और नाज़िज्म के आधार भूत विचारों को देखकर उनके कार्यक्रम और परिणाम पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये। फ़ैसिज्म और नाज़िज्म अपने आपको अपने राष्ट्रों की प्रजा की एक जीवित संस्था समझते हैं जो चारों ओर शत्रुओं से घिरी हुई है। अपने राष्ट्र के विकास के लिये दूसरे राष्ट्रों से लड़कर उन्हें अपने आधीन करना फैसिज्म और नाज़ीज्म का उद्देश्य है। संसार के दूसरे देशों को जीतकर इटली के आधीन कर एक बड़ा साम्राज्य क़ायम करना फ़ासिज्म का उद्देश्य है।

नाज़िज्म का दावा है:—जर्मन जाति ही केवल शुद्ध आर्य जाति है और यही जाति संसार पर आधिपत्य करने का अधिकार रखती है। जर्मनी की सीमा पर स्थित छोटे-छोटे देशों को अपने क़ब्ज़े में कर लेने के बाद जर्मनी दूसरे देशों पर भी क़ब्ज़ा करेगा और सबसे पहले रूस की उपजाऊ भूमि और खानें जीतकर अपनी शक्ति को बढ़ाने के

और नाज़ीज़्म सम्पूर्ण शक्ति सरकार के ही हाथ में रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति न तो अकेला रह सकता है और न उसे केवल अपने हित के लिये मनमानी करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। राष्ट्रीय संगठन या सरकार सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रतिनिधि हैं। सरकार के बिना समाज की रक्षा नहीं हो सकती इसलिये सरकार ही सबसे उपर है। राष्ट्र या सरकार के सामने व्यक्ति की कोई हस्ती नहीं। राष्ट्र के हित के सामने सब श्रेणियों और व्यक्तियों को दब जाना चाहिये। राष्ट्र या सरकार ही इस बात का निश्चय करेगी कि देश को किन किन पदार्थों की कितनी कितनी आवश्यकता है और व्यक्तियों को वे किस परिमाण में दिये जा सकेंगे। पैदावार और उसका बँटवारा इस प्रकार होना चाहिये कि राष्ट्र की शक्ति बढ़े। राष्ट्र की शक्ति का अर्थ है, राष्ट्र की सैनिक शक्ति युद्ध द्वारा दूसरे राष्ट्रों को दबा सकने की शक्ति। इस शक्ति को बढ़ाने के लिये सभी श्रेणियों का हित कुर्बान कर दिया जाना चाहिये। जिस प्रकार समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग व्यक्ति के हित और स्वतंत्रता से समाज को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं, उसी प्रकार नाज़ी और फैसिस्ट भी राष्ट्र और समाज को व्यक्ति से ऊँचा स्थान देते हैं। परन्तु समाज के उद्देश्य के बारे में दोनों की धारणा अलग अलग है।

नाज़ी लोग भी अपने आपको समाजवादी कहते हैं। परन्तु उनका समाजवाद दूसरे ढंग का है मार्क्सवादियों के समाजवाद का आधार है, समाज के सभी मेहनत करने वाले लोग—चाहे वे किसी भी जाति, नस्ल या धर्म के हों। मार्क्सवाद समाजवाद में नस्ल और देश का भेद नहीं मानता। वह संसार को एक विश्वव्यापी समाजवादी राष्ट्र में संगठित करना चाहता है, जिसमें होड़ की गुंजाइश और युद्ध की ज़रूरत न रहेगी। परन्तु नाज़ीज्म ( नेशनल-सोशलिज्म ) के समाजवाद का आधार है—नस्ल। अपने देश या नस्ल के अन्दर समाजवाद हो और

दूसरे देशों को जर्मन और इटालियन साम्राज्य के आधीन कर लेने पर लाभ इन देशों के पूँजीपतियों का होगा या मज़दूरों का ? उस समय इनकी सरकार यह फैसला करेगी कि दूसरे देशों के बाज़ारों पर कब्जा करने के लिये यह ज़रूरी है कि जर्मन और इटैलियन माल सस्ता तैयार हो। इसके लिये फिर जर्मनी और इटली के मज़दूरों को कम मज़दूरी पर काम करके राष्ट्रीय हित के लिये स्वार्थ त्याग करने के लिये तैयार होना पड़ेगा। मार्क्सवाद की दृष्टि में नाज़िज़्म और फैसिज़्म केवल जर्मनी और इटली की पूँजीपति श्रेणियों के संसार पर कब्ज़ा करने का स्वप्न है। या कहिये गिरते हुए पूँजीवाद का अपने देशों में तानाशाही क़ायम कर आत्म रक्षा करने का प्रयत्न है।

आज दिन हिटलर और मुसोलिनी अपने अपने राष्ट्रों के एक छत्र तानाशाह समझे जाते हैं। परन्तु समाज के आधुनिक विकास में किसी एक व्यक्ति की एक छत्र तानाशाही समाज में क़ायम हो सकना प्रायः असम्भव सी बात है। आज दिन समाज की नीति—जैसा कि हम पहले कह आये हैं—बलवान श्रेणियों के स्वार्थ के उद्देश्य से निश्चित होती है। हिटलर और मुसोलिनी का राज उनका व्यक्तिगत राज नहीं, बल्कि उस श्रेणी का राज है, जिसके कि वे प्रतिनिधि हैं। हिटलर और मुसोलिनी किस श्रेणी के प्रतिनिधि हैं; इस बात को तर्क की अपेक्षा हम उनके जीवन की घटनाओं से ही अधिक अच्छी तरह देख सकते हैं।

जर्मनी और इटली में नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद का जन्म आर्थिक अव्यवस्था के समय हुआ। इस कार्य में नाज़ीवाद और फ़ैसिस्टवाद को कितनी सफलता मिली और कैसे मिली, इस पर भी एक नज़र डालना ज़रूरी होगा। इसके लिये जर्मनी का उदाहरण अधिक उपयोगी होगा।

१९१४—१९१८ के महायुद्ध के बाद जर्मनी में आर्थिक परिस्थिति ने बहुत भयानक रूप धारण कर लिया। न केवल किसान मज़दूरों की

देता रहे। हिटलर इसी श्रेणी का प्रतिनिधि था और उसने अपने इस आन्दोलन को राष्ट्रीय समाजवाद का नाम दिया।

हिटलर ने मध्यम श्रेणी के नेतृत्व में समाजवाद क़ायम करने का जो आन्दोलन चलाया, उसमें उसे विशेष सफलता न मिली। उसके मुख्य सहायक 'काली कमीज़ वाले' स्वयमसेवक सैनिकों की संख्या १९३२ तक एक सौ से न बढ़ी। उस समय जर्मनी के पूँजीपतियों ने पूँजीवाद के विरुद्ध उठती हुई समाजवादी क्रान्ति की लहर का मुकाबिला करने के लिये हिटलर द्वारा जर्मनी के 'पुनः संगठन' या नेशनलसोशलिज्म के संगठन को उपयोगी समझकर उसे आर्थिक सहायता देनी शुरू की। हिटलर के उस संगठन को जिसमें सौ स्वयम सेवक भी कठिनता से जमा हो सके थे और जिन्हें अपनी सभा करने के लिये हाल किराये पर लेने के लिये पैसे न मिलते थे, इन पूँजीपतियों थाइसन, शातू, क्रुप और दो एक दूसरे की सहायता मिलने और उनकी सहायता से हिटलर के राजनैतिक क्षेत्र में सफलता पाने पर इन स्वयमसेवकों की संख्या शीघ्र ही बीस हज़ार हो गई। हिटलर के राज्य शक्ति प्राप्त कर लेने पर १९३५ में इन स्वयंसेवकों की संख्या तीन लाख तक पहुँच गई।

आज इस स्वयंसेवक दल का काम न केवल कम्यूनिस्टों की क्रान्तिकारी शक्ति को दबाना है बल्कि नाज़ी दल की स्वयम सेवक 'खाकी कमीज की सेना' पर नियंत्रण रखना भी है। खाकी कमीज़ की सेना में मुख्यतः मध्यम श्रेणी के लोग और युद्ध के समय की सेना के अफसर इत्यादि हैं। राजनैतिक शक्ति की बागडोर हथियाने में मध्यम श्रेणी के इन्हीं लोगों से हिटलर को मुख्य सहायता मिली परन्तु अपनी श्रेणी का कोई स्वार्थ नाज़ीवाद में पूर्ण होता न देख इन लोगों में अविश्वास फैलने लगा इसलिये इन्हें नियंत्रण में रखने का काम 'काली कमीज़' के स्वयमसेवक दल को दिया गया जो हिटलर के निजी सैनिक और गुप्तचर के रूप में काम करते है। ऐसे समय मुसोलिनी और हिटलर

जो दोनों ही पहले अपने आप को जनता के सामने समाजवादी के रूप में पेश कर जनता की सहानुभूति प्राप्त कर चुके थे, अपने अपने देशों के पूँजीवादियों के बल पर जनता को नया मार्ग दिखाने के लिये आगे आये।

हिटलर और मुसोलिनी ने अपने देशों की मध्यम श्रेणियों और साधनहीन श्रेणियों को समझाया कि उनके देश के संकट का कारण है ; योरुप में दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभुत्व। जिन्होंने उनके देशों से जीवन के साधन छीन लिये हैं। प्रजा को चाहिये कि अपने देश के पूँजीवादियों के हाथ से पैदावार के साधनों की मिल्कियत छीनने के बजाय वे संगठित राष्ट्र के रूप में खड़े हों और साम्राज्यवादी देशों की तरह संसार के दूसरे देशों पर अपना अधिकार क़ायम कर अपनी अवस्था सुधारें। इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका का उदाहरण उनके सामने था। पिछले महायुद्ध में जर्मनी पराजित हुआ था और विजयी मित्रराष्ट्रों की शक्ति ने जर्मनी पर अनेक अपमानजनक प्रतिबंध लगा दिये थे ; जिनके कारण जर्मनी की आर्थिक स्थिति गिरती जा रही थी। हिटलर ने जर्मन जाति के राष्ट्रीय अभिमान को उकसा कर फिर से साम्राल्य विस्तार का स्वप्न उसके सामने रक्खा और उसके लिये कुर्बानी और युद्ध के लिये जर्मनी को तैयार करना शुरू किया। पिछले महायुद्ध के अंत में जर्मनी में आर्थिक संकट के कारण जो विप्लव हो गया था उसे ही जर्मनी की हार का कारण बताया गया और उस विप्लव का कारण किसान मज़दूरों की चेतना बता कर राष्ट्र के हित के लिये उसे दबाने की चेष्टा की गई। अन्तर्राष्ट्रीयता और समानता की भावना पर क़ायम कम्यूनिज़्म को राष्ट्र का शत्रु बताकर पूँजीवाद द्वारा ही दुबारा औद्योगिक उन्नति को मुक्ति का मार्ग समझा गया। पूँजीपतियों के प्रभाव में हिटलर ने जर्मनी के लिये और मुसोलिनी ने इटली के लिये मुक्ति का जो मार्ग निश्चित किया, उसमें राष्ट्र की संगठित शक्ति उन देशों के पूँजीवादियों के व्यवसायों की सहायता के लिये मुहय्या की गई।

इन पूँजीपतियों के व्यवसायों की उन्नति के लिये मज़दूरों को कम मज़दूरी पर काम करने के लिये मज़बूर किया गया, ताकि उन्हें ख़ूब मुनाफ़ा हो और उस मुनाफे से और अधिक व्यवसाय चलाये जा सकें जिन में देश के बेकार मज़दूर काम पा सकें। देश में बेकारी और बेहद ग़रीबी के कारण माल की खपत न होने से असंतोष न बढ़े इसलिये इन नये व्यवसायों में अधिकतर युद्ध की सामग्री तैयार करने वाले व्यवसाय चलाये गये। जनता के लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थों को तैयार करने में जनता की शक्ति ख़र्च न कर, उसे युद्ध के लिये आवश्यक पदार्थों को तैयार करने में ख़र्च किया गया। कम पूँजी से अधिक समान तैयार कराने के लिये मज़दूरों को मज़दूरी भी कम दी गई। इसके साथ ही जनता के सामने साम्राज्य विस्तार द्वारा संसार पर शासन कर स्मृद्धि लाने के स्वप्न भी रखे गये। उन्हें निरंतर समझाया गया कि उनके जीवन की आवश्यकताओं की अपेक्षा युद्ध की सामग्री अधिक आवश्यक है, क्योंकि उसीसे राष्ट्र के भविष्य का निर्माण हो सकता है।

नाज़ी शासन की आर्थिक और राजनैतिक नीति का नियंत्रण पूर्णरूप से जर्मनी के चन्द पूँजीपतियों के हाथ में है जिन की दया पर हिटलर की स्थिति निर्भर करती है। इन्हा के आर्थिक शासन में जर्मनी का सम्पूर्ण व्यापार और उद्योग धन्धे चल रहे हैं। मध्यम श्रेणी की अवस्था में न केवल उन्नति ही नहीं हुई बल्कि उनकी अवस्था पहले से भी गिर गई है। इसलिये पिछले वर्षों में नाज़ी शासन के विरुद्ध विद्रोह के अनेक यत्न हुए जिन्हे शासन की शक्ति हाथ में होने के कारण नाज़ियों ने निरंकुशता पूर्वक दबा दिया। इसके अलावा संसार पर जर्मन साम्राज्य के विस्तार के स्वप्न पूरा करने के लिये नाज़ियों ने छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़पना आरंभ किया और जर्मन प्रजा को जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का विश्वास दिलाने के लिये मित्र राष्ट्रों द्वारा महायुद्ध में पराजय के स्वरूप संधि की शर्तों के रूप में लगाई गई

पाबंदियों को तोड़ना शुरू किया। फ्रांस और इंगलैंड चाहते तो जर्मनी को उसी समय कुचल दे सकते थे परन्तु इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने इस विश्वास पर कि जर्मनी की बढ़ी हुई शक्ति संसार से कम्यूनिज्म का नाश कर देगी, जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय डकैतियों को न केवल चुपचाप सहन कर लिया बल्कि वहाँ के पूँजीपति शासन को कर्ज़ के रूप में उन्हें करोड़ों की सहायता दी ताकि जर्मनी में कम्यूनिस्ट आन्दोलन पनप न सके। जर्मनी में नाज़ीवाद के रूप में पूँजीवाद को फिर से स्थापित करने में जो क़ामयाबी हुई उसमें इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका के पूँजीपति सरकारों की सहायता का विशेष स्थान है। जर्मन पूँजीवाद इन राष्ट्रों के पूँजीवाद से सहायता पाकर भी अपने स्वार्थ को प्रधानता देने के कारण उनसे लड़े बिना न रह सका। उस समय जर्मनी की भीतरी अवस्था इतनी असन्तोषपूर्ण हो चुकी थी कि यदि जर्मन प्रजा को साम्राज्य प्राप्ति या महान जर्मनी की आशा के नशे में अंधा न कर दिया जाता तो नाज़ी शासन के विरुद्ध क्रांति अवश्य हो जाती। इनके अलावा वर्षों तक लगातार तैयार की गई युद्ध सामिग्री को काम में कहाँ लाया जाता ? परिणाम स्वरूप जर्मनी ने युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय डकैती द्वारा अपना निर्वाह करना शुरू किया, जिससे बेकारों को सिपाही बनाकर बेकारों की संख्या में कमी करने की सुविधा भी होगई और शेष लोगों को युद्ध की सामिग्री तैयार करने के उद्योग में खपा दिया गया। इतने पर भी जर्मनी जब प्रजा की गिरी हुई आर्थिक अवस्था के कारण नित्य होने वाली पैदावार को खपा न सका तो नाज़ीवाद ने मैशीनों की रफ़्तार कम कर अमेरिका की भाँति पैदावार को कम करने की चेष्टा शुरू की।

इटली की अवस्था इससे भिन्न नहीं। दोनों ही देशों की मौजूदा शासन पद्धति और आर्थिक व्यवस्था देखने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अपनी स्वाभाविक गति पर चलते हुए इन देशों के

पूँजीवाद ने और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी होड़ ने जब इटली और जर्मनी में अपना रास्ता स्वयम असंभव कर दिया और भविष्य में वैयक्तिक स्वतंत्रता के आधार पर चलना जब पूँजीवाद के लिये वहाँ असम्भव हो गया, पूँजीवाद ने अपनी रक्षा के लिए अपना निरंकुश शासन ( Dictatorship ) के रूप में नाज़ीवाद और फ़ैसिज़्म जारी किया है।

नाज़ीवाद और फ़ैसिस्टवाद को मार्क्सवाद मध्यम श्रेणी के सहयोग से स्थापित पूँजीपति श्रेणी की तानाशाही के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता, जो समाज में अशांति का कारण साधनहीन श्रेणियों की दुरावस्था को दूर न कर केवल दमन से ही उसे पूँजीपतियों के हित की रक्षा के लिये दबा रखना चाहती है। परन्तु पूँजीवाद नाज़ीवाद और और फ़ैसिस्टवाद के रूप में अपने भीतर पैदा होने वाले अन्तर विरोधों से इतना पूर्ण हो गया है कि अपने आधारभूत सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतंत्रता को छोड़ समाजवाद के सिद्धान्त—सामाजिक नियंत्रण से अपने हितों की रक्षा कर रहा है। नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद साम्राज्य विस्तार के रूप में जितना अपने क्षेत्र को बढ़ायेंगे, उनके शासन के प्रति विरोध करने वाली शक्तियाँ भी उतनी अधिक उस क्षेत्र में पैदा होंगी और अन्त में कुछ आदमियों के स्वार्थ की रक्षा करने वाली इस पूँजीवादी तानाशाही को पैदावार के लिये परिश्रम करने वाली श्रेणियों के सामने, जिनकी संख्या का बल पूँजीपती श्रेणी से हज़ारों गुणा अधिक है, झुकना ही पड़ेगा।

## प्रजातंत्र-समाजवादी और कम्यूनिस्ट

( Social Democrats )

'प्रजातंत्र-समाजवादी' शब्द भ्रमात्मक है। इसलिये नहीं कि प्रजातंत्र-समाजवादी लोग प्रजातंत्र का समर्थन नहीं करते, बल्कि इस

लिये कि वह कौन समाजवादी है जो प्रजातंत्र का समर्थक नहीं ? समाजवाद के अनेक रूपों और संगठनों का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध लेखक डी० एन० प्रिट ने लिखा है—'समाजवाद का एक ही रूप है और वह है कम्यूनिज़्म। समाजवाद को स्पष्ट तौर पर कम्यूनिज़्म न कह कर, तरह तरह के नाम धारण करनेवाले संगठन वास्तव में मार्क्सवादी समाजवाद में विश्वास नहीं करते।'

यदि प्रिट का यह कहना ठीक है तो प्रजातंत्र समाजवादी भी इस परिभाषा से नहीं बच सकते परन्तु इस बात से भी इनकार नही किया जा सकता कि प्रजातंत्र समाजवादी न केवल मार्क्स के आर्थिक सिद्धांतों में पूर्ण रूप से विश्वास रखते हैं बल्कि मार्क्सवादी समाजवादियों की ही भाँति समाजवाद के पश्चात् श्रेणी रहित समाज—अर्थात् कम्यूनिज़्म में भी विश्वास रखते है। वे शासन विधान को साधनहीन किसान-मज़दूरों की श्रेणी के हितों के अनुकूल बनाना चाहते हैं परन्तु फिर भी उनका कम्यूनिस्टों से मतभेद है।

प्रजातंत्र-समाजवादियों और कम्यूनिस्ठों का मतभेद उद्देश्य या आदर्श समाज के संगठन के बारे में नहीं। भेद है, केवल कार्यक्रम के बारे में। या कहा जा सकता है कि उनका भेद उस तरीके में है जिसके द्वारा पूँजीवाद के भीतर पैदा हो जाने वाली कठिनाइयों से पीड़ित समाज समाजवाद की राह से कम्यूनिज्म की अवस्था को पहुँच सके।

प्रजातंत्र-समाजवादी मार्क्स के ऐतिहासिक क्रम विकास के सिद्धान्त और परिस्थितियों के प्रभाव को बहुत महत्व देते हैं। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार मनुष्य-समाज पूँजीवाद से पूर्व की अवस्थाओं से पूँजीवाद में पहुँचा है और समाज में पूँजीवाद ने अपने मार्ग में स्वयम अन्तर विरोध और कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं, उसी प्रकार विकास से ही पूँजीवाद का अन्त भी हो जायगा। समाज की परिस्थितियों के क्रम विकास से पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप ही समाजवादी व्यव-

स्था में बदल जायगी। उसके लिये किसी राजनैतिक क्रान्ति या विप्लव की आवश्यकता नहीं। उनकी धारणा है, पूँजीवाद को समाजवाद में बदलने के लिये ज़रूरत है, केवल पूँजीवादी समाज में अधिक आर्थिक कठिनाइयों के अनुभव होने की और इसके साथ साथ साधनहीनों के श्रेणी संगठनों के विकास की।

प्रजातंत्र-समाजवादी पूँजीवादी समाज को समाजवादी विधान में बदलने का उपाय प्रजा की चेतना और राय ( वोट ) के बल पर वैधानिक सुधार करना समझते हैं। इस प्रकार एक दिन इसी वैधानिक मार्ग से वे साधनहीन किसान-मज़दूरों के हाथ में शासन शक्ति दे देंगे और समाज पूर्णतः समाजवाद में परिणित हो जायगा।

कम्यूनिस्ट लोगों का विश्वास इससे भिन्न है। मार्क्स द्वारा सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य-समाज की प्रगति पर पड़ने का अर्थ वे केवल भौतिक परिस्थितियाँ, मनुष्य शरीर के बाहर चारों ओर की परिस्थितियाँ ही नहीं समझते। मनुष्य के विचारों और कार्यों को भी वे परिस्थितियों का भाग समझते हैं। ख़ास ख़ास परिस्थितियों में मनुष्य क्या करने का निश्चय करता है, इस बात का प्रभाव भी मनुष्य के समाज और उसके विकास पर पड़ता है। परिस्थितियाँ विचारों को पैदा करती हैं यह ठीक है, परन्तु मनुष्य की विचार और उसके कार्य भी परिस्थिति का अंग हैं। इसलिये कम्यूनिस्ट लोगों की यह धारणा है कि खास तरह की परिस्थितियाँ अर्थात् पूँजीवादी प्रणाली द्वारा समाज के मार्ग में रुकावटें आ जाने पर भी यदि समाज की वह श्रेणी जिनके कंधों पर नये युग के निर्माण का बोझ है, आगे नहीं बढ़ती तो समाज की दूसरी श्रेणियाँ जो अधिक सजग और संगठित हैं, अपने कार्यों से परिस्थितियों को अपने स्वार्थ के अनुकूल उपयोग में लायेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार ज़बरदस्ती लादी गई व्यवस्था अधिक देर तक सफल नहीं हो सकती परन्तु समाज को विकास

के स्वाभाविक मार्ग पर न ले जाकर अर्थात पैदावार करनेवाली और सबसे अधिक शक्तिशाली श्रेणी के शासन में न ले जाकर दूरे मार्गों पर भटकने देना' मनुष्य-समाज के विकास के मार्ग में जान-बूझकर रुकावट आने देना और मनुष्य-समाज की शक्ति का नाश करना है।

कम्यूनिस्टों का विश्वास है कि पूँजीवादी श्रेणी अपने स्वार्थ को छोड़कर स्वयम ही अलग नहीं हो जायगी। उसके लिये साधनहीन श्रेणियों के सचेत और संगठित प्रयत्न की ज़रूरत है। यह प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि साधनहीन श्रेणी, किसान-मज़दूर अपने हाथ में शासन की शक्ति नहीं ले लेते। समाजवादी क्रान्ति सफल करने के लिये पहले राजनैतिक शक्ति का साधनहीन श्रेणी के हाथ में आना ज़रूरी है। प्रजातंत्रवादी इससे ठीक उलटे क्रम में विश्वास रखते हैं। उनका ख्याल है कि आर्थिक स्थिति के कारण वैधानिक परिवर्तन से समाजवाद पहले कायम हो जायगा और तब राज-शक्ति स्वयम ही मज़दूर-किसान श्रेणियों के हाथ में आजायगी।

कम्यूनिस्ट लोगों का कहना है कि मार्क्स के अनुसार इतिहास का क्रम श्रेणियों में आर्थिक संघर्ष का क्रम है और मार्क्स का यह विचार इतिहास द्वारा प्रमाणित है। मनुष्य-समाज का इतिहास बताता है कि किसी श्रेणी या क़ायम व्यवस्था ने अपनी स्थिति की रक्षा के लिये संघर्ष किये बिना दूसरी श्रेणी की सत्ता या व्यवस्था के लिये स्थान खाली नहीं किया। मौजूदा अवस्था में मनुष्य स्वभाव और मनुष्य की प्रवृत्ति के अनुसार शासक श्रेणी का अपनी सत्ता कायम रखने के लिये संघर्ष करना ज़रूरी है। नया विधान और अपनी सत्ता क़ायम करने के लिये साधनहीन श्रेणी को भी संघर्ष करना ही होगा। इसके अतिरिक्त कम्यूनिस्टों का कहना है कि यदि पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ पूरे तौर पर न काट दी जायगी और समाजवाद कायम करने के बाद पूँजीवाद के पुनः उठ खड़े होने पर प्रतिबंध नहीं लगाये जायँगे, तो मुनाफ़े और

स्वार्थ के लिये पागल पूँजीवादी श्रेणी समाजवादी व्यवस्था असफल करने के प्रयत्नों से समाज में अशान्ति पैदा करती रहेगी ; जैसा कि रूस की १६१७ की समाजवादी राज्यक्रान्ति के बाद रूस में प्राप्त हुए अनुभवों से प्रमाणित हो चुका है।

इटली और जर्मनी में नाज़ीज़्म और फैसिज़्म क़ायम होने का कारण भी उन देशों में समाजवादी शक्ति अर्थात साधनहीन मज़दूर-किसानों की श्रेणी का उस समय सैनिक क्रान्ति के लिये न होना बताते हैं। जबकि पूँजीवादी सत्ता अपने अन्तर विरोधों के कारण अस्तव्यस्त हो रही थी और समाजवादी शक्ति के लिये राजसत्ता हाथ में लेने का समय था। यदि साधनहीन लोगों की श्रेणी शक्ति संचय कर राजनैतिक क्रान्ति के लिये तैयार न होगी तो अनेक बार परिस्थितियाँ पैदा होने पर भी वह अपनी सत्ता क़ायम न कर सकेगी और पूँजीपति श्रेणियाँ वैयक्तिक स्वतंत्रता के बाद तानाशाही और तानाशाही के बाद सैनिक राज की व्यवस्था कर समाजवादी व्यवस्था को टालती चली जायँगी।

गहरी दृष्टि से देखें तो प्रजातंत्र-समाजवादियों की इस धारणा में कि समाज स्वयम ही समाजवाद की ओर जायगा, पूँजीवादियों की यह विचारधारा कि समाज में आर्थिक क्रम को अपनी स्वाभाविक गति से (Laissez faire) जाने देना चाहिये काम करती दिखाई देती है। यह मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं और न इतिहास ही उसकी सचाई और उपयोगिता का समर्थन करता है।

गांधीवाद—

पूँजीवादी व्यवस्था के कारण पैदा हो जानेवाली असमानता और अव्यवस्था का उपाय करने के लिये चलाये गये आन्दोलनों में गांधीवाद का भी एक स्थान है। गांधीवाद का उद्देश्य सामाजिक अशान्ति दूर कर मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाना है। अन्य आन्दोलनों की तरह गांधीवाद केवल आर्थिक या राजनैतिक नहीं, वह

मुख्यतः आध्यात्मिक है। गांधीवाद की नींव आध्यात्मिक होने पर भी वह सामाजिक शान्ति के लिये आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं के हल की बात भी सोचता है। भारतवर्ष के राजनैतिक आन्दोलन से गांधीवाद का सम्बन्ध होने से राजनैतिक क्षेत्र में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हम ऊपर कह आये है, गांधीवाद की नींव आध्यात्मिक है। वह संसार की आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का कारण भौतिक परिस्थितियों और आर्थिक कारणों में ही नहीं बल्कि व्यक्ति की मानसिक वृत्ति में ही अधिक देखता है। व्यक्ति की मानसिक वृत्ति को गांधीवाद जीवन निर्वाह की परिस्थितियों का परिणाम ही नहीं समझता बल्कि मनुष्य की मानसिक वृत्ति या आत्मा को वह अलौकिक शक्ति या भगवान का अंश समझता है या उससे सम्बद्ध समझता है। गांधीवाद की न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित की धारणा मार्क्सवाद की तरह व्यक्ति और व्यक्तियों के समूह, समाज के सांसारिक हित और सफलता पर ही निर्भर नहीं करती बल्कि इस संसार और शरीर से परे आत्मा के कल्याण पर भी निर्भर करती है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन के क्रम का निश्चय करने में भी गाधीवाद केवल भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव तथा मनुष्य के विचार और निर्णय को ही सब कुछ स्वीकार न कर अलौकिक शक्ति और भगवान की इच्छा को भी स्थान देता है। इन प्रश्नों पर मार्क्सवाद के रुख़ का वर्णन हम इस पुस्तक के पिछले अध्याय में 'भौतिक आधार' और 'आध्यात्मिक और मार्क्सवाद' में कर आये हैं।

समाज से आर्थिक असमानता और अव्यवस्था दूर करने के प्रश्न पर ही गांधीवाद के रुख़ का वर्णन हमें यहाँ करना है। गांधीवाद सामाजिक अशान्ति और आर्थिक संकट का कारण धन और द्रव्य का कुछ एक व्यक्तियों के हाथों में इकट्ठा होजाना और समाज के बड़े अंग का

साधनहीन हो जाना स्वीकार करता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि इस प्रकार की आर्थिक विषमता का कारण व्यक्तियों का मुनाफ़ा कमाने का यत्न है और यदि मुनाफ़ा कमाने की प्रवृत्ति न हो तो धन और पैदावार के साधनों का बँटवारा बहुत हद तक समान रूप में हो सकता है। परन्तु मार्क्सवाद की तरह गांधीवाद यह स्वीकार नहीं करता कि मुनाफ़ा कमाने की प्रणाली या पूँजीवाद समाज के लिये एक ऐतिहासिक मंजिल है और समाज के लिए वह अपने आवश्यक कार्य को पूरा कर चुका है। अब उसके स्थान पर दूसरी व्यवस्था के आने की ज़रूरत है—जो पूँजीपति और साधनहीन श्रेणियों के संघर्ष में साधनहीन श्रेणी की सफलता से आयेगी। गांधीवाद का विचार है कि पूँजीपतियों की मुनाफ़ा कमाने की प्रवृत्ति उनके व्यक्तिगत लोभ के कारण है और इसका उपाय पूँजीपति व्यक्तियों का मानसिक और आत्मिक सुधार है। मार्क्सवाद पूँजीपतियों या किसी भी व्यक्ति के लोभ को आत्मा और मन का गुण व अवगुण नहीं बल्कि परिस्थितियों के कारण आत्मरक्षा का प्रयत्न समझता है, जिसे दूर करने के लिये समाज की परिस्थितियों को बदलना ज़रूरी है। यों तो गाँधीवाद भी समानता का समर्थक है * परन्तु सामाजिक परिस्थितियों को बदलने के उपाय के सम्बन्ध में उसका मार्क्सवाद से मतभेद है और समाज के भावी रूप और आदर्श के सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण मार्क्सवाद से भिन्न है।

गाँधीवाद के दृष्टिकोण से—पैदावार के साधनों का मशीन का रूप धारण कर बढ़ना और पैदावार का कुछ व्यक्तियों के हाथ में एक स्थान पर केन्द्रित हो जाना ही विषमता का कारण है। उनके विचार में इसी कारण पैदावार का फल भी बहुत थोड़े व्यक्तियों की मिल्कियत हो जाती है।

---

* गाँधीजी अपने आपको अनेक बार सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट कह चुके हैं।

इस विचार से मार्क्सवाद सहमत है। परन्तु इसका उपाय क्या हो?—इस बात पर मतभेद है। गाँधीवाद कहता है—पैदावार का केन्द्रीकरण ( Centralisation ) नहीं होना चाहिये, पैदावार घरेलू उद्योग धन्दों के रूप में ही होनी चाहिये ताकि पैदावार के साधन या औज़ार पैदावार करने वाले व्यक्तियों जुलाहे, ठठेरे, चमार, कुम्हार की निजी सम्पत्ति हों। वे जितना चाहें उत्पन्न करें और अपने परिश्रम के फल को बाज़ार में बेचकर या दूसरे पदार्थों से बदलकर पूरा-पूरा पा सकें। इस प्रकार शोषण की गुंजाइश न रहेगी। पैदावार में मशीन के उपयोग से उसका एक स्थान पर केन्द्रित होना आवश्यक है परन्तु उद्योग धन्दों और व्यवसायों को केन्द्रित न करने का अर्थ होगा कि मशीनों का व्यवहार छोड़ दिया जाय, क्योंकि मिलों और मशीनों को टुकड़ों और दूसरे कारीगरों के घर और देहात में बाँटना असम्भव है। मिलों से पैदावार करने से केन्द्रिकरण अवश्य ही होगा।

गांधी जी इस विषय में निर्भीकता पूर्वक कहते हैं कि मशीनों का अधिक प्रयोग मनुष्यता का शत्रु है। गांधी जी के घरेलू धन्दों द्वारा समाज से होड़ दूर करने और मुनाफ़े द्वारा कुछ आदमियों का अमीर बनना रोकने का अर्थ होता है—विज्ञान द्वारा मनुष्य ने जितनी उन्नति की है, उसका बहिष्कार कर देना। कुछ उद्योग धन्दे ऐसे अवश्य हैं, जिन्हें घरेलू धन्दों के रूप में एक हद तक ( पूर्ण उन्नत अवस्था तक नहीं ) चलाया जा सकता है। उदाहरणतः जुलाहे, लुहार, चमार का काम परन्तु विज्ञान द्वारा प्राप्त आधुनिक सभ्यता के कुछ साधन ऐसे हैं, जिन्हें घरेलू धन्दों के तौर पर नहीं चलाया जा सकता। उदाहरणतः रेलें, जहाज़ और यातायात के दूसरे साधन, बिजली, गैस आदि शक्ति उत्पन्न करने के साधन, या लोहे, तेल, कोयले आदि की खानें जिन्हें उचित ढंग से चलाने के लिये हज़ारों ही आदमियों का एक साथ काम करना ज़रूरी है। गांधीवाद का विचार है, यदि इन सब वस्तुओं को

कुर्बान करके भी मनुष्य की आत्मा की रक्षा की जा सके तो कोई हानि नहीं। जिस आत्मा की रक्षा के लिये गांधीवाद इतना महत्व देता है मार्क्सवाद उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता जैसा कि हम मार्क्स-वाद और आध्यात्म के प्रश्न में स्पष्ट कर आये हैं। मार्क्सवाद जिस विज्ञान को सत्य की कसौटी मानता है, उस पर आत्मा का विकास पूरा नहीं उतरता।

मार्क्सवाद पैदावार के केन्द्रीकरण के विरुद्ध नहीं। पैदावार के केन्द्रीकरण को वह साधनों के विकास के क्रम में आवश्यक समझता है। पैदावार के साधनों की शक्ति बढ़ने से उनका एक स्थान पर इकट्ठा होना आवश्यक हो जाता है और यदि केन्द्रीकरण से पैदावार बढ़ती है तो उससे मनुष्य-समाज का कल्याण ही होना चाहिये, हानि नहीं। यदि केन्द्रीकरण से पैदावार कुछ व्यक्तियों के हाथ में इकट्ठी हो जाती है तो इसकी जिम्मेदारी केन्द्रीकरण पर नहीं। केन्द्रीकरण तो पैदावार का एक तरीक़ा है। इस तरीक़े से पैदावार कुछ व्यक्तियों के मुनाफ़े के लिये भी की जा सकती है और सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिये भी। केन्द्रीकरण द्वारा पैदावार के कुछ एक आदमियों के हाथों में इकट्ठे हो जाने का कारण मार्क्सवाद बताता है, पैदावार के केन्द्रित साधनों पर कुछ एक व्यक्तियों की मिल्कियत होना।

सम्पत्ति और पैदावार का मुनाफ़ा कुछ एक आदमियों के हाथों में इकट्ठा हो जाने का कारण है समाज की वर्तमान व्यवस्था। मार्क्सवाद कहता है, उद्योग धन्दों और कला-कौशल की उन्नति होने से पूर्व हमारे समाज में पैदावार के साधन जिस प्रकार के थे, आज उस प्रकार के नहीं हैं 'परन्तु पैदावार के सम्बन्ध और बँटवारे के सम्बन्ध आज भी उसी प्रकार के हैं। इस बात को यों समझा जा सकता है कि विकास से पूर्व के युग में एक व्यक्ति अपने औज़ारों का मालिक था और वह अकेला उनसे परिश्रम कर पैदावार के साधनों से पैदा किये फल का

मालिक होता था। आज दिन पैदावार के साधनों के मालिक तो कुछ एक व्यक्ति ( पूँजीपति ) होते हैं परन्तु पैदावार के साधनों को काम में लाने के लिये हज़ारों व्यक्ति काम करते हैं और इन हज़ारों व्यक्तियों के परिश्रम के फल के मालिक फिर कुछ एक व्यक्ति हो जाते हैं *। मार्क्सवादी कहते हैं कि पैदावार के साधनों पर अब हज़ारों व्यक्तियों के एक साथ काम करने से पैदावार का तरीका तो बदल गया है परन्तु पैदावार के साधनों पर और पैदावार के फल का स्वामी अब भी एक ही व्यक्ति है, इसीलिये संकट पैदा होता है। पैदावार करने के तरीके जब बदल गये हैं तो पैदावार के साधन पर मिल्कियत और पैदावार के बँटवारे के सम्बन्ध भी बदल जाने चाहिये।

मार्क्सवाद की दृष्टि में पैदावार के साधनों के वास्तविक मालिक पूँजीपति नहीं बल्कि पैदावार के लिये मेहनत करने वाले किसान-मज़दूर ही होने चाहिये। क्योंकि पैदावार के बड़े-बड़े साधन किसी एक व्यक्ति के परिश्रम से पैदा नहीं हो सकते। पूँजीपति जिन मज़दूरों को रख कर किसी काम को कराता है उस काम का पूरा मूल्य मज़दूरों के परिश्रम का परिणाम है। यदि मज़दूरों के काम का पूरा फल दे दिया जाय और मालिक या प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति भी अपने परिश्रम का फल ले ले ( चाहे उसकी मेहनत का फल एक मज़दूर की मेहनत के फल से चार गुणा ही क्यों न समझ लिया जाय ) तो मालिक के पास करोड़ों की

* पूँजीवादी लोग कहते हैं, पैदावार के साधनों का मालिक पूँजीपति पैदावार के साधनों से परिश्रम करने वाले नौकरों और मज़दूरों को उनके परिश्रम का फल दे देता है। जो मुनाफ़ा बचता है वह उसका अपना भाग है। मार्क्सवादी कहते हैं, पूँजीपति मज़दूर के श्रम का पूरा भाग नहीं देता। अतिरिक्त मूल्य (surplus value) के सिद्धान्त के अनुसार वह मज़दूर के परिश्रम का फल हड़प लेता है। इस विषय का चर्चा हम अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के प्रकरण में करेंगे।

सम्पत्ति जमा नहीं हो सकती। मजदूरों के परिश्रम से पैदा हुआ जो धन मज़दूरों को न देकर मालिक स्वयं रख लेता है, वह वास्तव में मज़दूरों का ही धन है और उस धन से तैयार मिलें भी मज़दूरों की ही हैं। मालिक केवल प्रबंधक समझा जा सकता है और प्रबंधक वह व्यक्ति होना चाहिये जिसे वास्तविक मालिक यानी मज़दूर लोग नियत करना चाहें और जो मज़दूरों के लाभ के लिये ही पैदावार के साधनों को चलाये। मार्क्सवादी समाज में शान्ति और समृद्धि के लिये पैदावार के साधनों को किसान-मज़दूरों की सम्पत्ति बना देना चाहते हैं, ताकि उनकी मेहनत का पूरा फल उन्हें मिल सके।

इसी प्रकार खेती की भूमि के सम्बन्ध में भी मार्क्सवादियों का सिद्धान्त है कि भूमि को कोई व्यक्ति पैदा नहीं करता, उसका केवल उपयोग ही किया जाता। भूमि का महत्व इसीलिये है कि समाज का शोषण होता है। इसलिये भूमि पर अधिकार भी समाज का ही होना चाहिये।

हमारे समाज में प्रायः खेती की ज़मीन उन लोगों की सम्पत्ति है जो स्वयं खेती नहीं करते। मालिक होने के नाते वे लोग खेती की ज़मीन पर परिश्रम कर पैदावार उत्पन्न करने वालों की मेहनत का फल अपने उद्योग के लिये लगान या टैक्स के रूप में ले लेते हैं; क्योंकि इन्हें यह कहने का अधिकार है कि भूमि उनकी ही सम्पत्ति है। पुराने समय में यह शक्ति सरदार के हाथ में, उसकी शस्त्र शक्ति के कारण थी। जो उसकी आज्ञा न मानता उसका सिर उतार दिया जाता। आज यह शक्ति ज़मींदार या जागीरदार के हाथ में सरकारी क़ानून के कारण है। जिस क़ानून को ज़मींदार श्रेणी और उसी तरह की पूँजीपति श्रेणियों ने अपने लाभ के लिये बनाया है।

मार्क्सवाद का कहना है कि सम्पत्ति और भूमि की मिलकियत के क़ानून साधनहीन श्रेणियों का परिश्रम लूटने के अधिकार की रक्षा के लिये पूँजीपति और ज़मींदार श्रेणियों ने शक्ति अपने हाथ में होने के

कारण बनाये हैं। इन क़ानूनों और समाज की व्यवस्था में इस प्रकार का परिवर्तन करने की ज़रूरत है कि पैदावार के साधन सम्पूर्ण समाज के मेहनत वालों की सम्पत्ति हों और उपयोग में आने वाले पदार्थ परिश्रम करने वाले लोगों को अपने-अपने परिश्रम के अनुसार मिल जायँ। इसके साथ ही कला कौशल की उन्नति से पैदावार को इतना बढ़ा दिया जाय कि समाज का व्यक्ति कम समय परिश्रम कर उपयोगी पदार्थों को इतने अधिक परिमाण में उत्पन्न कर सके कि सभी व्यक्तियों को आवश्यक पदार्थ उनकी आवश्यकता अनुसार मिल सकें।

ऐसी अवस्था लाने के लिये पहली शर्त यह है कि पैदावार के सब साधन समाज में मेहनत करने वाली श्रेणियों की सम्पत्ति हों और उनका उपयोग व्यक्तिगत मुनाफ़े के लिये न होकर समाज के हित के लिये हो। इसके लिये ज़रूरत है कि साधनहीन श्रेणी संगठन द्वारा शक्ति संचय कर पैदावार के साधनों, भूमि, मिलों, खानों और दूसरे सभी पैदावार के स्रोतो पर अपना अधिकार कर ले। साधनहीन श्रेणी का पैदावार के साधनों पर अधिकार करने का आन्दोलन गांधीवाद की दृष्टि में अन्याय और हिंसा है।

गांधीवाद में हिंसा का महत्व सबसे अधिक है। मन, वचन, कर्म द्वारा पूर्ण अहिंसा ही गांधीवाद में व्यक्ति और समाज का परम उद्देश्य है। किसी भी प्रकार से किसी भी व्यक्ति या जीव को कष्ट पहुँचाना गांधीवाद की दृष्टि में हिंसा है। ऐसा करने के लिये गांधीवाद मना करता है।

हिंसा का समर्थन कोई भी विचारधारा नहीं करती। भेद केवल दृष्टिकोण में है। एक विचार धारा से जो बात हिंसा समझी जाती है, दूसरे दृष्टिकोण से वही बात न केवल अहिंसा समझी जा सकती है बल्कि उस काम को न करना ही हिंसा का समर्थन हो सकता है। मार्क्सवाद के उद्देश्य भी समाज से हिंसा को दूर करना है। मार्क्सवाद की दृष्टि में जो लोग मेहनत करें वे अपने परिश्रम का पूरा फल न पा सकें या परिश्रम

करने के लिए तैयार होने पर भी उन्हें पैदावार के साधनों को छूने के लिये मना कर दिया जाय और बेकार बनाकर भूखे और नंगे रहकर तड़पने के लिए छोड़ दिया जाय एक संसार व्यापी हिंसा है। मनुष्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन के लिये अवसर और साधनों से वंचित कर देना निरन्तर हिंसा है।

हिंसा के अर्थ पर विचार कर हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि मनुष्य को जो कुछ भी अप्रिय लगे वह हिंसा है। कोई भावना या व्यवहार मनुष्यों को अपने हित और संस्कारों के अनुसार प्रिय अप्रिय लगता है, जो बात मनुष्य को अच्छी मालूम नहीं होती या अन्याय मालूम होती है, वही हिंसा है। न्याय और अन्याय समाज के हित और संस्कारों के अनुसार निश्चित होता है। जब व्यक्ति या समाज के संस्कार बदल जाते हैं, हिंसा-अहिंसा और न्याय-अन्याय का विचार भी बदल जाता है। मार्क्सवाद समाज के कल्याण को ही मुख्य समझता है। जिस बात के करने से समाज का कल्याण हो, उसे वह अहिंसा समझता है और जिस काम से समाज में अधिक मनुष्यों पर संकट आ पड़े, वह मार्क्सवाद की दृष्टि में हिंसा है। यदि कुछ व्यक्तियों के पैदावार के साधनों का स्वामी बन जाने से समाज के ९५% मनुष्य दुःख उठाते हैं तो यह हिंसा की व्यवस्था है।

गाँधीवाद भी समाज के अधिकांश मनुष्यों का दुख में रहना हिंसा समझता है परन्तु दूसरी ओर वह सम्पत्ति के मालिक बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के हाथ से इन साधनों का छीन लेना भी हिंसा समझता है। हिंसा चाहे नेक इरादे से ही की जाय, गाँधीवाद में वह अनुचित है। गांधीवाद का विश्वास है, यदि शक्ति प्रयोग द्वारा कोई नेक काम करने का यत्न किया जायगा तो उस काम की नेकी भी हिंसा हो जायगी। गांधीवाद केवल प्रेरणा द्वारा ( समझा बुझाकर ) नेकी का उद्देश्य पूरा करने के नियम को स्वीकार करता है। परन्तु जहाँ संस्कारों

और स्वार्थ का प्रभाव बहुत गहरा होता है, वहाँ प्रेरणा काम नहीं देती क्योंकि मनुष्य की सब प्रवृत्तियों से बलवान स्वार्थ और आत्मरक्षा की प्रवृत्ति है। ऐसी अवस्था में मार्क्सवाद समाज की शक्ति के प्रयोग उचित समझता है।

गांधीवाद की तह में मार्क्सवाद पूँजीवादी समाज के विश्वासों की नींव है। गांधीवाद ने पूँजीवाद के सिद्धान्तों को न्यांय मानकर अपनी नीति और आचार का क्रम निश्चित किया है और उसी दृष्टि से गांधीवाद हिंसा और अहिंसा का भी निश्चय करता है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण गांधीवाद कां व्यक्ति की सम्पत्ति पर पुश्तैनी हक़ को स्वीकार करना या मालिक के हित के सामने समाज के हित को कुर्बान कर देना है। यदि इस देश के पूँजीपति समाजहित के विचार से अपनी सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति बनाने के लिये तैयार न हों तो गांधीवाद इस देश के साधनहीन किसान मज़दूरों को वह सम्पत्ति मालिकों से छीनने का अधिकार नहीं देता। यदि किसान मज़दूर शारीरिक शक्ति के प्रयोग से नहीं बल्कि सत्याग्रह (धरना आदि देने के शान्तिमय प्रयत्नों) द्वारा भी अपना इस प्रकार का आन्दोलन चलावे तो भी गांधीवाद उसका समर्थन न करेगा *. उसे इसमें अन्याय दिखाई देगा—क़ायम व्यवस्था और क़ानून का विरोध दिखाई देगा।

---

* सन् १६३८-३६ में अपनी मज़दूरी बढ़ाने के लिये कानपुर तथा दूसरे औद्योगिक नगरों में मज़दूरों ने हड़तालों में मिलों के दरवाज़े के सामने लेटकर जो अहिंसात्मक धरना दिया था महात्मा गांधी ने उसकी निंदा की थी। उन्होंने उसे मज़दूरों का अन्याय बताया था। महात्मा-जी ने इस सम्बन्ध में अपने पत्र हरिजन में लिखा था—"As the author of peaceful picketing, I can not recall a single instance, in which I encouraged such picke-

परन्तु क़ायम व्यवस्था या क़ानून क्या है ? गांधीवाद के अनुसार सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार मनुष्य के कर्मों का फल और भगवान् की इच्छा से है। मार्क्सवाद इसे केवल सम्पत्तिशाली श्रेणी का अपने हितों की रक्षा के लिये बनाया क़ायदा समझता है। भगवान् और उसकी इच्छा के लिये मार्क्सवाद में स्थान नहीं। उसका कहना है, मनुष्य मात्र का कल्याण चाहनेवाली शक्ति का यह फ़ैसला नहीं हो सकता कि लाखों करोंड़ों मनुष्य केवल इसलिये आयु भर दुख उठाते रहें कि वे ग़रीबों के घर पैदा हो गये। पिता के असामर्थ्य का दण्ड सन्तान को देना मार्क्सवाद को मंजूर नहीं।

गांधीवाद के अनुसार समाज की सबसे अच्छी व्यवस्था का आदर्श 'रामराज्य' है। रामराज्य का अर्थ गांधीवाद की दृष्टि में है—मालिक लोग अपनी सम्पत्ति के मालिक रहें, जागीरदार अपनी जागीर के मालिक रहें परन्तु वे लोग अपने मज़दूरों, नौकरों और रैयत पर ज़ुल्म न करें। मालिक अपने आश्रितों को अपनी सन्तान की तरह समझें और मज़दूर तथा किसान मालिकों को अपने पिता और संरक्षक समझें। मालिक लोग अपने स्वार्थ के लिये मज़दूर-किसानों पर शासन न करें बल्कि परोपकार के लिये ही ऐसा करें। मार्क्सवाद का कहना है—कि लाखों वर्षों का मनुष्य-समाज का इतिहास बताता है कि शासन की शक्ति हाथ में रखने वालों ने शासन सदा ही अपने स्वार्थ के लिये किया है। जितने भी धार्मिक गुरु, अवतार या पैग़म्बर कहलाने वाले महापुरुष हुए हैं, उन सभी ने मनुष्य को स्वार्थ त्याग कर दूसरों का हित करने का उपदेश दिया परन्तु इस सबके प्रभाव से भी मनुष्य की प्रवृत्ति बदली नहीं। उनका प्रभाव मनुष्य के स्वभाव में कोमलता, सहिष्णुता और

---

ting" महात्माजी ने अपने पत्र में मिल मालिकों का यह अधिकार स्वीकार किया था कि वे धरना देनेवाले मज़दूरों को पुलिस और सरकार की शक्ति द्वारा हटा सकते हैं।

उदारता लाने में थोड़ा बहुत ज़रूर हुआ परन्तु उतना ही जितना कि समाज की आर्थिक परिस्थितियों में शासक श्रेणी के आत्म रक्षा के उद्देश्य के साथ सम्भव था। इसलिये गांधीवाद का भी स्वार्थ त्याग का उपदेश समाज में शान्ति लाने में सफल नहीं हो सकता क्योंकि वह समाज की उन आर्थिक परिस्थितियों को बदलने का यत्न नहीं करता, जो स्वार्थ परता का कारण है, जिनके कारण मनुष्य समाज में अशांति और विषमता पैदा हो रही है।

गांधीवाद समाज की अवस्था सुधारने के लिये केवल प्रेरणा और अनुनय विनय का उपाय ही उचित समझता है *। मार्क्सवाद मनुष्य की प्रेरणा और तर्क की शक्ति को भी मनुष्य की हाथ पैर की शक्ति के समान ही शरीर की शक्ति समझता है। शस्त्रों की शक्ति को भी वह मनुष्य की शारीरिक शक्ति का अंग समझता है। समाज के कल्याण के लिये मनुष्य की शक्ति के तीनों रूपों ° को वह आवश्यक समझता है। मार काट और युद्ध को मार्क्सवाद मनुष्य के जंगलीपन की अवस्था का चिन्ह मानता है और इस प्रकार की हिंसा और प्रतिहिंसा को वह न केवल व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार से दूर करना चाहता है बल्कि सम्पूर्ण समाज और राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध से भी दूर कर देना चाहता है। परन्तु यदि समाज को हानि पहुँचानेवाली शक्तियाँ अपने अधिकार

---

* सन् १९३८ में साम्प्रदायिक बलवों के समय जब कांग्रेसी-प्रांतों की सरकारों ने पुलिस और सेना की शक्ति का प्रयोग किया तो इससे गांधीजी को असंतोष हुआ। उन्होंने कांग्रेसी सरकारों के इस व्यवहार की आलोचना करते हुए कहा था कि यह कांग्रेस के आदर्श की असफलता है। कांग्रेसी सरकारों को चाहिए कि वे केवल अहिंसात्मक प्रेरणा द्वारा ही साम्प्रदायिक दंगा करनेवाले उपद्रवियों और गुण्डों को सीधे मार्ग पर लायें।

° मनुष्य का शारीरिक बल, प्रेरणा की शक्ति, शास्त्रों की शक्ति है।

और शस्त्रों की शक्ति के प्रयोग से समाज को हिंसा और शोषण की अवस्था में बाँधे रखने का यत्न करें तो मार्क्सवाद उनका विरोध सभी शक्तियों से करना उचित समझता है। मार्क्सवाद यह विश्वास नहीं करता कि मनुष्य से परे किसी अलौकिक शक्ति पर समाज में न्याय की रक्षा और शोषितों की सहायता की ज़िम्मेदारी है। वह न्याय को क़ायम करने और शोषण को समाप्त करने की ज़िम्मेदारी समाज के दलित और शोषित लोगों पर ही समझता है।

गांधीवाद की विचारधारा का आधार अमर आध्यात्मिक शक्ति की उन्नति है। गांधीवाद एक धार्मिक विश्वास है। वह मनुष्य का उद्देश्य केवल इस संसार में ही सफलता प्राप्त करना नहीं समझता। वह इस संसार और इस जन्म को केवल परलोक में प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक पूर्णता का साधन समझता है। जीवन का उद्देश्य आत्मिक उन्नति और परलोक होने से दृष्टिकोण वैयक्तिक हो जाता है। क्योंकि आत्मा इस संसार की वस्तु नहीं, इस संसार से परे उस स्थान की वस्तु है, जहाँ न यह शरीर जायगा न समाज। इसलिये आत्मावादी लोगों का लक्ष्य वैयक्तिक रहता है। गांधीवाद व्यक्ति को समाज का अंग तो स्वीकार करता है परन्तु व्यक्ति की उन्नति का लक्ष्य और आदर्श आध्यात्मिक पूर्णता और भगवान् से आदेश पाना *। निश्चित करता है, जहाँ समाज की पहुँच नहीं।

गांधीवाद जिस साम्यवाद § का समर्थन करता है मार्क्सवाद की

---

* गांधीजी ने अपने व्यवहार में प्रायः अपनी आत्मिक शक्ति को समाज के बल और संगठित शक्ति से अधिक ऊँचा स्थान दिया है। राजकोट के मामले और हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रश्न पर महात्माजी का उपवास करना इस बात का प्रमाण है।

§ समानवाद और कम्यूनिज़्म का नहीं।

दृष्टि में वह साधनों की मालिक और शासक श्रेणी की दया और सद्-गुणों पर निर्भर अवैज्ञानिक साम्यवाद है। जैसा हम रॉबर्टओवन और सेन्टसाइमन के 'सन्तों के साम्यवाद' के रूप में देख आये हैं। गांधी-वाद समाज में जो शान्ति, समता और व्यवस्था चाहता है वह पूँजीपति और ज़मीन्दार श्रेणियों के शासन और नियंत्रण में होगी। इस लिये मार्क्सवाद की दृष्टि में उसे पूँजीवाद की पुनः स्थापना का प्रयत्न ही कहा जायगा। पूँजीवाद की पुनः स्थापना के लिये यत्न करने वाली दूसरी विचारधाराओं, नाज़ीवाद, फैसिस्टवाद और दूसरे पूँजीवादी प्रयत्नों में और गांधीवाद में भेद यह है कि दूसरे सिद्धान्त पूँजीवाद को प्रकट रूप से शस्त्र शक्ति और शासन शक्ति द्वारा क़ायम करना चाहते हैं, गांधीवाद उसे जनता के धर्म विश्वास और नैतिक धारणा के परदे में क़ायम करना चाहता है *।

## प्रजातंत्रवाद—

( Democracy )

प्रजातंत्र का सबसे पहला आभास मनुष्य समाज की आदिम अवस्था के इतिहास में मिलता है। उस समय समाज या देश की सीमा बहुत परिमित होती थी। शासन का संगठन एक कुटुम्ब या गाँव तक ही परिमित था। उस समय प्रजातंत्र शासन का अर्थ था कि समाज के सब लोग एक स्थान पर बैठकर व्यवस्था के बारे में सलाह मशविरा कर एक निश्चय करलें। समाज की उस अवस्था में एक कुटुम्ब या समाज के सब व्यक्ति समान थे। उनकी आर्थिक अवस्था और साधन समान थे इसलिये उनके अधिकार और स्थिति भी समान थी। परन्तु पैदावार के साधनों और सम्पत्ति के विकास से मनुष्यों में असमानता

---

* मार्क्सवाद धर्म और ईश्वर विश्वास को जनता के दिमाग़ को मिथ्या भ्रम में भुलाये रखनेवाली अफ़ीम का नशा समझता है—

आ गई और आदिम अवस्था की समानता के मिट जाने के साथ ही समाज का वह आदिम प्रजातंत्र भी मिट गया। आधुनिक इतिहास में प्रजातंत्र का बोलबाला हम उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में देखते हैं जबकि व्यवसाय और व्यापार की उन्नति और कला कौशल के विकास से समाज की पुरानी सामन्तशाही और राजसत्ता की सहायक श्रेणी साधनों की दृष्टि से अपेक्षा कृत निर्बल हो गई। सामन्त सर्दारों के अपनी रैयत पर निरंकुश शासन न तो व्यवसाइयों को स्वतंत्रता पूर्वक व्यवसाय का अवसर देता था और न उनकी भूमि से बँधी रैयत को, जो उनकी गुलामी छोड़कर नये पैदा हुए उद्योग-व्यवसायों से अपना निर्वाह करना चाहती थी।

औद्योगिक क्रान्ति ने समाज की उस पुरानी राजनैतिक व्यवस्था को तोड़ दिया जिसमें भूमि के स्वामी सर्दार का ही शासन था। सर्दारों के अधिकार की राजनैतिक व्यवस्था बदलने के लिये जो आवाज़ उठी, वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार पर थी। मनुष्यमात्र को एक समान मानकर शासन व्यवस्था में समान रूप से भाग लेने का अधिकार प्रजा के लिये माँगा गया। फ्रांस के क्रान्तिकारी 'रूसू' ने प्रजातंत्र की इस माँग का समर्थन सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से किया जिसके अनुसार शासन की शक्ति किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन समाज हित के लिये, सामाजिक समझौते से क़ायम हुआ है और उसमें प्रजा की अनुमति और राय होना ज़रूरी है।

हज़ारों वर्ष के विकास से गुज़रकर उन्नीसवीं शताब्दी में शासन का संगठन इतना सीमित न था कि सम्पूर्ण समाज या देश की प्रजा एक स्थान पर एकत्र होकर सलाह मशविरे और राय से अपनी व्यवस्था निश्चित कर ले। इसलिये प्रतिनिधियों द्वारा शासन की व्यवस्था की गई। उस समय के विचारकों की राय में प्रतिनिधि शासन प्रणाली ही

समाज की स्वतंत्रता का सबसे पूर्ण आदर्श थी। इस प्रतिनिधि शासन प्रणाली की बुनियाद रखी गई वैयक्तिक स्वतंत्रता के आधार पर। मार्क्सवाद की दृष्टि से वैयक्तिक स्वतंत्रता की इस माँग की जड़ में भी आर्थिक कारण थे। वास्तव में वैयक्तिक स्वतंत्रता की यह माँग उस समय नये व्यवसायों और उद्योग धन्दों के आरम्भ होने से सबल होती हुई, उस समय की मध्यम श्रेणी—जिसने आज पूँजीपति श्रेणी का रूप धारण कर लियाहै,—की आर्थिक स्वतंत्रता की माँग थी जिसे सामन्तशाही बंधन, विकास का अवसर नहीं दे रहे थे।

प्रतिनिधि-प्रजातंत्र-शासन द्वारा मिलने वाली वैयक्तिक स्वतंत्रता ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिको जीविका कमाने के लिये स्वतंत्र कर दिया। व्यवसायी लोग स्वतंत्रता पूर्वक कारोबार चलाने लगे। प्रजा सामन्तों की रैयत होने के बन्धनों से छूट दस्तकारी से या व्यवसाइयों के कारोबार में स्वतंत्रता से मेहनत मज़दूरी कर जीविका पाने लगी।

इसी समय मशीनों की उन्नति आरम्भ हुई। व्यवसाई श्रेणी मशीनों द्वारा पैदावार को बड़े परिमाण में कर मुनाफ़ा कमाने के लिये स्वतंत्र थी। प्रजा के उन लोगों ने जिनके हाथ में पैदावार के साधन न रहे थे, स्वतंत्रता से अपनी मेहनत की शक्ति बेचकर इन व्यवसायों में मज़दूरी करली। परिणाम में समाज में दो श्रेणियाँ प्रकट हुईं; एक श्रेणी व्यवसाइयों की थी, जो अपने कारोबार में मुनाफ़े से पूँजी एकत्र कर पैदावार के साधन अपने हाथ में करने लगी। दूसरी वह श्रेणी थी जिसके हाथ में जीवन निर्वाह के लिये पैदावार के साधन न थे। उनके पास जीवन निर्वाह का उपाय केवल अपने शरीर के परीश्रम को पूँजीपति व्यवसाइयों के हाथ बेचना था।

मशीनों की बड़ी पैदावार की शक्ति की होड़ में मामूली दस्तकारों का टिकना सम्भव न था। वे भी अपने औज़ार छोड़ मज़दूर बन गये। अब समाज स्पष्ट तौर पर दो श्रेणियों में बंट गया, एक श्रेणी हो गई

पैदावार के साधनों की मालिक, जिसके कब्जे में मिलें, खानें और भूमि, उत्पत्ति के सभी साधन हैं, और दूसरी श्रेणी वह, जिसके पास पैदावार का कोई भी साधन नहीं। जो केवल अपना परिश्रम बेचकर ही पेट भर सकती हैं। ज्यों-ज्यों पूँजीवाद बढ़ने लगा त्यों-त्यों कुछ व्यक्तियों के पास पूँजी बड़ी मात्रा में इकट्ठी होने लगी और बहुत बड़ी संख्या साधन-हीन हो गई। मशीनों के विकास ने एक-एक आदमी को बीसियों आदमियों का काम करने योग्य बना दिया, जिसका परिणाम हुआ कि मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो भूखी नंगी फिरने लगी। कहने को वैयक्तिक स्वतंत्रा का सिद्धांत आज भी है, सभी व्यक्तियों को आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता समान रूप से है; परन्तु साधनों की दृष्टि से ज़मीन आसमान का अन्तर है।

पूँजीवादी प्रजातंत्र में समाज का ९५%भाग जीवन निर्वाह के साधनों से रहित है और आर्थिक रूप से पूँजीपतियों के वस में परन्तु राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र और समान है। पूँजीवादी प्रजातन्त्र देशों में पूँजीपतियों, जमींदारों और किसान, मज़दूरों के राजनैतिक अधिकार समान हैं। मार्क्सवाद की दृष्टि में ऐसे राजनैतिक अधिकारों का कोई मूल्य नहीं जिनके उपयोग के लिये साधन न हो। अधिकार केवल साधन से होते हैं; और जिस समाज में जिस श्रेणी के पूँजीवादी प्रजातन्त्र में साधनहीनों की स्वतंत्रता का अर्थ है, भूखे और नंगे रह कर मर जाने की स्वतंत्रता। और पूँजीवादियों की स्वतंत्रता का अर्थ है, साधन-हीन श्रेणी को अपने बन्धनों में जकड़ कर अपना स्वार्थ पूरा करने की स्वतंत्रता और अपनी शक्ति से इस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था क़ायम करने की स्वतंत्रता जिसमें साधनहीन श्रेणी सब प्रकार से शक्तिहीन होकर पूँजीपति श्रेणी के स्वार्थ को पूरा करती जाय। पूँजीवादी प्रजा-तंत्र राष्ट्रों इंगलैण्ड फ्रान्स, अमेरिका आदि में इसी प्रकार की प्रजातन्त्र व्यवस्था है।

पूँजीवादी राष्ट्रों के प्रजातन्त्र की वास्तविकता का उदाहरण हम सबसे अच्छी तरह इंगलैण्ड में देख सकते हैं।

पिछले सौ वर्षों से इंगलैण्ड प्रजातंत्र का रक्षक होने का दम भरता आ रहा है और आज दिन भी वह प्रजातन्त्र और वैयक्तिक स्वतंत्रता का गढ़ माना जाता हैं। इंगलैंड में प्रजातन्त्र शासन की वास्तविकता को देख लेने से हम पूँजीवादी देशों में प्रजातन्त्र की असलियत को समझ सकेंगे और इससे दूसरे देशों की प्रजातंत्र शासन प्रणाली का रहस्य भी हमारी समझ में आ जायगा।

इंगलैंड में शासन का अधिकार है पार्लिमेण्ट के हाथ में, जिसे जनता की प्रतिनिधि सभा समझा जाता है। इस पार्लिमेण्ट के दो भाग हैं। एक सभा में जिसे लॉर्ड सभा कहते हैं केवल बड़े बड़े जागीरदारो के वंशज लोग ही बैठ सकते हैं। इन्हें प्रजा की राय की कोई परवाह करने की ज़रूरत नहीं। दूसरा भाग जिसमें सर्व-साधारण प्रजा के प्रतिनिधि रहते हैं, साधारण सभा कहलाता है पार्लि-मेण्ट के निर्णय को इंगलैंड में कोई शक्ति रद्द नहीं कर सकती। पार्लि-मेण्ड की साधारण सभा के प्रतिनिधियों के चुनाव में क़ानूनन इंगलैंड के सभी स्त्री पुरुष, जिनकी आयु इक्कीस वर्ष से अधिक है, भाग ले सकते हैं और स्वयम् भी चुनाव के लिये उम्मीदवार बन सकते हैं। चुनाव में राय देने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को किसी स्थान पर कम से कम छः मास तक रह चुकने का सार्टिफिकेट पेश करना पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति दो या अधिक चुनाव क्षेत्रो में है, तो वह उन सभी चुनाव क्षेत्रों से वोट दे सकता है जहाँ उसकी सम्पत्ति है। इसके अतिरिक्त ग्रेजुएट ( बी० ए० पास ) लोगों को दो वोट देने का अधिकार रहता है।

इंगलैण्ड के प्रायः सभी निर्वाचन क्षेत्रों में सम्पत्तिहीन लोगों, किसान मज़दूरों की संख्या अमीरो से कहीं अधिक है। पिछली जन

संख्या के अनुसार इंगलैण्ड में सम्पत्तिहीनों की संख्या ९०% है। सम्पत्तिशाली कहलाने वाले १०% में वे लोग भी शामिल हैं जिनके पास छोटा सा खेत या छोटी सी अपनी दूकान है। दूसरों को मज़दूर या नौकर रखकर काम कराने वालों की संख्या केवल वहाँ ४% है।

पार्लिमेण्ट के लिये वोट देने का अधिकार सभी मज़दूरों, किसानों और सम्पत्तिहीन लोगों को भी है यदि वे किसी स्थान पर छः मास रहने का सार्टिफ़िकेट पेश कर सकें। परन्तु पूँजीपतियों का मिलों में में काम करने वाले और इन पूँजीपतियों द्वारा बसाई मज़दूरों की बस्तियों में रहने वाले लोगों के लिये उनकी मिलों में मज़दूरी कर स्वतन्त्र रूप से वोट देना कठिन काम है। वे ऐसा केवल उसी अवस्था में कर सकते हैं, जब उनके अपने स्वतंत्र संगठन हो ; जो मज़दूरों की संगठित शक्ति से उन पर आनेवाली मुसीबत का सामना करने के लिये तैयार हों। इसके अलावा पार्लिमेण्ट का उम्मीदवार बनने के लिये या पार्लिमेण्ट में अपना उम्मीदवार भेजने के लिये कुछ साधनों की भी ज़रूरत पड़ती है।

कोई भी व्यक्ति जो पार्लिमेण्ट की मेम्बरी का उम्मीदवार बनना चाहता है, उसे आठ व्यक्तियों का समर्थन अपनी उम्मीदवारी के लिये और १५० पाउण्ड ज़मानत के तौर पर सरकारी ख़ज़ाने में जमा करा देना पड़ता है। यदि उम्मीदवार को वोट एक खास संख्या से कम मिलते हैं, तो उनकी ज़मानत जब्त हो जाती है। भारत में भी प्रत्येक उम्मीदवार को एक ज़मानत इसी प्रकार जमा करानी पड़ती है। चुनाव के लिये उम्मीदवार व्यक्ति को, क्या इंगलैंड में और क्या किसी दूसरे देश में, अपने चुनावके लिये लोगों को समझाना और दौड़ धूप करनी पड़ती है। इंगलैंड में यह ख़र्च कम से कम पाँच सौ पाउण्ड हो जाता है।* इंगलैंड में यदि कोई व्यक्ति पार्लियामेण्ट के चुनाव का उम्मी-

* भारत में यह रक़म कांग्रेस के उम्मीदवारों के लिये बहुत कम,

दवार बनना चाहता है तो उसे कम से कम छः सौ पचास पाउण्ड का प्रबन्ध करना होगा। इतनी रकम कोई मज़दूर आयु भर की कमाई से भी इकट्ठा नहीं कर सकता परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में क़ानूनन वह एक पूँजीपति के बराबर हैसियत रखता है, जो चाहे तो एक नहीं दस उम्मीदवारों को चुनाव के लिये खड़ा कर सकता है। ऐसी अवस्था में मज़दूरों के लिये स्वयम् या मज़दूर सभाओं द्वारा सफलता से चुनाव लड़ना कठिन है।

इंगलैंड में एक औसत अच्छे मज़दूर की आमदनी वर्ष भर में ११७ पाउण्ड से अधिक नहीं होती। आमदनी पर कर देने वाले लोगो की संख्या, जिनकी वार्षिक आमदनी दो हज़ार पाउण्ड सालाना से अधिक है, इंगलैंड भर में एक लाख से अधिक नहीं। इंगलैंड में प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेने की सहूलियत केवल इन्हीं लोगों को है। इंगलैंड की लगभग चार करोड़ जन संख्या में पार्लिमेण्ट के चुनाव में सुविधा से भाग ले सकने वालों की संख्या प्रति हज़ार में केवल दो है। इसलिये हम इंगलैंड के प्रजातंत्र को प्रति हज़ार केवल २½ मनुष्यों का प्रजातंत्र कहेंगे।

देश के शासन की नीति का निश्चय प्रतिनिधि सभा के मेम्बरों द्वारा होता है। मेम्बर चुने जाते हैं नीति के प्रश्न पर। लोगों को यह नीति के समझाने के लिये प्रचार के साधनों की ज़रूरत रहती है। प्रचार का मुख्य साधन समाचार पत्र है। प्रजातंत्रवादी देशों में प्रेस की स्व-

---

यानी डेढ़, दो सौ से लेकर पाँच सौ हजार रुपये तक खर्च हुई है। दूसरे स्वतंत्र उम्मीदवारों के ख़र्च का कोई हिसाब नहीं। एक ख़ास रक़म से अधिक चुनाव पर ख़र्च करना क़ानूनन अपराध है, इसलिये अधिक रक़म खर्च करनेवाले उसे छिपाते हैं। परन्तु यार दोस्तों में उसे पचास हजार या इससे भी अधिक तक स्वीकार किया जाता है। कई व्यक्तियों ने एक एक लाख तक चुनाव पर खर्च किया है।

तंत्रता का नियम रहता है। जो चाहे समाचार पत्र चला सकता है; बशर्ते उसमें अश्लील और राजद्रोही बातें न हों। यह स्वतंत्रता सभी को समान है, परन्तु पत्र निकालने के लिये हज़ारों रुपये की पूँजी चाहिये। इसलिए अधिकार सबको होने पर भी पत्र निकाल सकना केवल पूँजीवादियों के लिये ही सम्भव है। यदि साधनहीन लोग चन्दा जोड़कर अपना पत्र निकाल भी लेते हैं, तो वह जल्दी ही घाटे के भंवर में डूब जाता है। आजकल पत्र विज्ञापनों के बिना चल नहीं सकते। विज्ञापन देना बड़े-बड़े पूँजीपतियों के बस की बात है। यह लोग विज्ञापन उन्हीं पत्रों को देंगे जो इनके हित और स्वार्थ की बात कहें। व्याख्यान आदि देकर भी प्रचार किया जा सकता है परन्तु इसके लिये भी एक जगह से दूसरी जगह आने जाने तथा दूसरे ख़र्चे की ज़रूरत रहती है। गोया कि इंगलैंण्ड का सम्पूर्ण प्रजातंत्र पैसे का खेल है। वे सभी काम जिनमें पैसे की आवश्यकता हो, उन लोगों के लिये असम्भव है जिनके हाथ में पैदावार के साधन नहीं। इंगलैण्ड के प्रजातंत्र की वैयक्तिक, राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता केवल उन लोगों के लिये है जो पैदावार के साधनों के मालिक होने के नाते समाज पर शासन कर रहे हैं। जिनके पास साधन नहीं, उनकी कोई आवाज़ नहीं, उन्हें क़ानूनन अधिकार तो हरएक बात का है परन्तु अवसर और साधन उनके पास नहीं है और न अवसर और साधन पाने की कोई आशा है।

प्रजातंत्र शासन की वैयक्तिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थ मार्क्सवाद की दृष्टि में केवल कुछ पूँजीपतियों की तानाशाही है, जिनकी संख्या प्रायः हज़ार में एक या दो होती है। पूँजीपतियों की यह स्वतंत्रता साधनहीनों को जीवन रक्षा के साधनों और राजनैतिक अधिकारों से दूर रखने का अधिकार है। पूँजीवादी प्रजातंत्र में साधनहीनों के आर्थिक और राजनैतिक अधिकार लँगड़े व्यक्ति के चल सकने के अधिकार की ही भाँति हैं।

यदि साधनहीन लोग जैसे तैसे अपने प्रतिनिधियों को चुनवाकर पार्लियामेण्ट या प्रतिनिधि सभा में अपना बहुमत कर लें और अपने हित के क़ानून पास करा ले तो परिणाम क्या होगा ? सभी प्रजातंत्र देशों में सरकार के काम चलानेवाली नौकरशाही (Civil service) पूँजीपति श्रेणी और पूँजीपति श्रेणी की सहायक मध्यम श्रेणी के लोग हैं। साधनहीनों द्वारा पास किये गये क़नूनों को अमल में लाना इस नौकरशाही की कृपा पर ही निर्भर करेगा। इन लोगों से स्वभावतः यह आशा की जाती है कि यह लोग इन क़ानूनों को सफल बनाने के बजाय असफल बनाने की ही कोशिश करेंगे।

साधनहीनों द्वारा सरकार की शक्ति ले लेने पर भी यदि समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ पूँजीपतियों की आर्थिक स्वतंत्रता रहे तो इस सरकार का दिवाला पहले ही दिन निकल जायगा। सरकार के काम करोड़ों के कर्ज़ पर चलते हैं। यह रुपया पूँजीपतियों की वैयक्तिक सम्पत्ति होता है। सरकार के कार्य में अपना हित और स्वार्थ पूरा होता न देख यह लोग अपना रुपया सरकारी खजानों से खींचने लगेंगे और सरकार बिना खजाने के रह जायगी। इसके अलावा यातायात के सब साधन-रेलें इत्यादि, फौजी सामान के कारखाने और खानें इत्यादि भी पूँजीपतियो के नियंत्रण में होने से साधनहीनों की सरकार का चलना एकदम असम्भव हो जायगा। सेनाओं पर भी आज दिन पूँजीपति श्रेणी के अफसरों का ही कब्जा है। ऐसी अवस्था में साधनहीन श्रेणी का शासन जनता के वोट के बल पर किसी प्रकार क़ायम हो जाने पर भी पूँजीवादी व्यवस्था के रहते सफल होना सम्भव नहीं। पूँजीवादी प्रजातंत्र में साधनहीन श्रेणी की सरकार क़ायम हो जाने पर पूँजीवादी श्रेणी अपनी गुलामी में फँसे हुए मध्यमश्रेणी और साधनहीन श्रेणी के अंग को लेकर—खासकर उन सिपाहियों के बल पर जो साधनहीन श्रेणी का अंग होते हुए भी अपना जीवन पूँजीपति श्रेणी की कृपा पर निर्भर

समझते हैं—साधनहीन श्रेणी की सरकार के विरुद्ध सशस्त्र बलवा कर सकते हैं। यह बात कल्पना ही नहीं है ; स्पेन में मज़दूर-किसानों का शासन क़ायम हो जाने पर वहाँ की ज़मीन्दार और पूँजीपति श्रेणी ने इसी प्रकार विद्रोह कर, जर्मन और इटैलियन पूँजीपतियों की ताना-शाही के बल पर फिर से अपना शासन क़ायम कर लिया। रूस में भी समाजवादी शासन आरम्भ होने पर वहाँ की पूँजीपति और ज़मीन्दार श्रेणियों ने समाजवादी शासन के प्रति सशस्त्र विद्रोह किया था। परन्तु वहाँ उनके सम्पत्तिहीन कर दिये जाने के कारण उनकी शक्ति इस लायक न रही कि वे समाजवादी सरकार का सामना सफलता पूर्वक कर सकते।

प्रजातंत्र राष्ट्रों में क़ायम विधान को, जिसे वैयक्तिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का नाम दिया जाता है, मार्क्सवाद की दृष्टि से न तो जनता को वैयक्तिक स्वतंत्रता की व्यवस्था कहा जा सकता है और न प्रजा का शासन। इस प्रकार के प्रजातंत्र को पूँजीपतियों की ताना-शाही के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता, जिसमें जीविका के साधनों से हीन साधनहीन श्रेणी सब अधिकारों से वंचित रहती है। प्रजा के अधिकारों का तभी कुछ मूल्य हो सकता है, जब उन्हें सबसे पहले जीविका के साधनों पर अधिकार हो। प्रजातंत्र में पूँजीपतियों की आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थ जनता की परतंत्रता है। समाजवाद में दूसरों के अधिकार छीन लेने की स्वतंत्रता—जैसी कि पूँजीवादी प्रजातंत्र शासन में पूँजीपतियों को है—अन्याय है।

मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक प्रजातंत्र तभी स्थापित हो सकता है जब सम्पूर्ण प्रजा को उत्पत्ति के साधनों पर समान अधि-कार हो। पैदावार के साधनों पर सब लोगों का समान अधिकार तभी हो सकता है जब पैदावार के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का एका-धिकार न होकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो। इस विचार से प्रजा-तंत्र शासन व्यवस्था यदि सम्भव है, तो केवल समाजवादी व्यवस्था में ही।

## अराजवाद ( अनार्किज़्म )

अनार्किज़्म का अर्थ प्रायः समाज में किसी प्रकार की शृंखला या व्यवस्था का न होना समझा जाता है। परन्तु अनार्किस्ट या अराजवादियों का यह उद्देश्य नहीं कि समाज में कोई व्यवस्था न हो। वे केवल शासन के बन्धन दूर कर देना चाहते हैं। अराज और अराजकता में भेद है *। अराज शब्द का अर्थ है—समाज में शासन का बंधन न होना और अराजकता का अर्थ है, गड़बड़ी हो जाना। अराजवादी समाज से शासन को इसलिये दूर नहीं करना चाहते कि अव्यवस्था और गड़बड़ी फैल जाय बल्कि इसलिये कि शासन का उद्देश्य समाज में मौजूद अन्याय और विषमता को शक्ति के ज़ोर से क़ायम रखना है। इस बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जायगा कि शासन का प्रयोजन समाज में असंतोष को प्रकट न होने देना है। समाज में असंतोष के कारण मौजूद हैं। शासन उन कारणों,-अर्थात् विषमता-को दूर करने का यत्न नहीं करता, न उसके लिये अवसर देता है। वह केवल शक्ति के प्रयोग से असंतोष प्रकट नहीं होने देता। असंतोष के प्रकट न होने से असंतुष्ट लोगों की शिकायत दूर नहीं हो सकती। समाज में एक बहुत बड़ी संख्या असंतुष्ट लोगों की है, तो उस व्यवस्था को संतोष-जनक व्यवस्था नहीं समझा जा सकता। शासन का उद्देश्य समाज की असंतुष्ट श्रेणियों पर नियंत्रण रखना है। नियंत्रण रखने की आवश्यकता उसी समय होती है जब असंतोष के कारण मौजूद हों यदि असंतोष के

---

* अंग्रेज़ी में अनार्की शब्द का अर्थ प्रायः बग़ावत के अर्थ में लिया जाता है परन्तु मूल शब्द ग्रीक भाषा का है और उसका अर्थ बग़ावत नहीं, बल्कि बन्धन न होना है। अनार्किस्ट लोगों का उद्देश्य समाज में अव्यवस्था या गड़बड़ मचा देना नहीं, बल्कि शासन या बन्धन का अन्त कर देना है।

कारण न हों तो नियंत्रण की भी ज़रूरत न रहे। अराजवादी लोगों का कहना है, समाज में असंतोष के कारण नहीं रहने चाहिये और न नियंत्रण होना चाहिये।

मार्क्सवाद की दृष्टि में अराजवादियों का उद्देश्य ग़लत नहीं। मार्क्सवाद भी समाज से आर्थिक शोषण के आधार पर श्रेणियों का भेद मिटाकर असन्तोष के कारणों और नियंत्रण दूर करना ही अपना उद्देश्य समझता है। परन्तु मार्क्सवाद अराजवाद से इस बात में सहमत नहीं कि समाज में मौजूद शासन को उखाड़ फेंकने से ही भविष्य में शोषण और असंतोष का अन्त हो जायगा और नियंत्रण की आवश्यकता न रहेगी। मार्क्सवाद साधनहीन श्रेणी के शोषण पर क़ायम मौजूदा शासन व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहता है परन्तु इस व्यवस्था की जगह एक ऐसी व्यवस्था क़ायम करना चाहता है जो शोषण के लिये नई परिस्थितियाँ पैदा न होने दे और असंतोष के कारण भी पैदा न होने दे। यह नई व्यवस्था स्वयं मेहनत करने वालों की सरकार होगी जो किसी का शोषण न करेंगे और असंतोष का कोई कारण पैदा न होने देंगे।

ऐसी अवस्था में केवल उन्हीं लोगों को असंतोष हो सकता है जो शोषण करते आये हैं और करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को संतुष्ट करने के लिये हज़ारों-लाखों का बलिदान नहीं किया जा सकता। इन लोगों का सन्तोष केवल इनका अभ्यास सुधारने से हो सकता है; और समाज में एक व्यवस्था द्वारा पैदावार और बँटवारे को ऐसे ढंग पर लाने की ज़रूरत है, जिससे सभी लोगों की आवश्यकता पूर्ण होकर सभी को संतोष हो सके। यह नयी व्यवस्था या साधनहीन श्रेणी की सरकार अपना नियंत्रण केवल व्यक्तियों पर न कर, पैदावार के साधनों, पैदावार के ढंग और बँटवारे के ढंग पर ही करेगी। इस प्रकार असंतोष के कारणों और नियंत्रण की आवश्यकता शनैः शनैः मिटती जायगी और नियंत्रण भी घटता जायगा। जब सब काम और व्यवस्था प्रजा और जनता

की इच्छा के अनुसार ही होंगे तो उसे नियंत्रण नहीं कहा जायगा। नियंत्रण, या शक्ति प्रयोग की आवश्यकता उसी समय होती है जब जनता को या समाज के बहुत बड़े भाग को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी अवस्था में रहने के लिये मजबूर किया जाय। मार्क्सवादी दृष्टि-कोण से नियंत्रण और शक्ति प्रयोग के लिये सरकार का अन्त उसी समय हो जायगा, जिस समय सरकार शोषण करने वाली श्रेणी के हाथ से निकल कर शोषित श्रेणी के हाथ में आ जायगी। इसके बाद जो व्यवस्था क़ायम होगी वह दमन के सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि जनता द्वारा अपने लाभ के ख़याल से अपनी इच्छा से प्रबंध करने के लिये होगी। समाजवादी व्यवस्था में सरकार का यही प्रयोजन और अर्थ होगा। इसके बाद जब समाज उत्पत्ति को आवश्यकता अनुसार बढ़ाकर सम्पूर्ण समाज की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के योग्य हो जायगा और सब लोग समाज के लिये उपयोगी कामों को स्वयं इच्छा और उत्साह से करने लगेंगे तो नियंत्रण और शासन की न तो आवश्यकता रहेगी और न वह रह ही सकेगा। मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार समाज को शासन और नियंत्रण से मुक्ति दिलाने का उपाय मौजूदा समाज में से सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये बग़ावत करना नहीं बल्कि शोषण की व्यवस्था का अन्त करना है। शोषण को क़ायम रखने के लिये ही सरकार का चौखटा समाज पर कसा जाता है, यदि समाज में शोषण न रहेगा तो न सरकार की ज़रूरत रहेगी और न सरकार रहेगी।

विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त—

जहाँ तक मार्क्सवाद के राजनैतिक, आर्थिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, ट्राट्स्की और स्टैलिन में * कोई भेद न था। परन्तु

---

* ट्राट्स्की का वास्तविक नाम—Leon Davidovitch Bronstein था। स्टैलिन का वास्तविक नाम—Joseph Vissaronovitch D, Jugrshvilki—है।

संसार में समाजवाद स्थापित करके समाज की अवस्था कम्यूनिज़्म की स्थापना के योग्य बनाने के सम्बन्ध में उनके कार्य-क्रम में भेद था।

मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद और कम्यूनिज़्म का उद्देश्य संसार व्यापी कम्यूनिस्ट समाज की स्थापना है। जिस समाज में पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत मिल्कियत न रहने से मुनाफ़ा कमाने का उद्देश्य और अवसर न रहे, और पैदावार करने वालों में परस्पर मुकाबिला भी न रहे, समाज में पैदावार के साधनों की मालिक और पैदावार के साधनों से हीन शोषक और शोषित श्रेणियाँ भी न रहें। केवल एक देश में ही इस प्रकार के-श्रेणी और शोषणहीन-समाज की स्थापना करना, समाजवाद और कम्यूनिज़्म का उद्देश्य नहीं। मार्क्सवाद न केवल सम्पूर्ण संसार में इस प्रकार की समाजवादी व्यवस्था क़ायम करना अपना उद्देश्य समझता है बल्कि उसका सिद्धान्त है कि पूर्ण और वास्तविक समाजवाद की स्थापना अकेले एक देश में सम्भव ही नहीं। पूँजीवाद एक श्रेणी के द्वारा दूसरी श्रेणी के निरन्तर शोषण की नींव पर क़ायम है और इस शोषण के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं। पूँजीपति श्रेणी अपने शोषण को केवल अपने देश में ही सीमित नहीं रखती बल्कि अन्य देशों में भी अपने व्यवसाय फैलाकर मुनाफ़ा कमाने का यत्न करती है। मुनाफ़ा कमाने के इस कार्य में संसार के भिन्न-भिन्न देशों के पूँजीपतियों में परस्पर सहयोग और संघर्ष भी चलता रहता है। किसी देश के पूँजीपतियों की शक्ति केवल अपने ही देश की शोषित श्रेणी के शोषण पर निर्भर नहीं करती बल्कि दूसरे देशों की साधनहीन श्रेणियों का भी शोषण कर वे अपनी पूँजी की शक्ति बढ़ाते हैं। इसलिये पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण से मुक्ति पाने के लिये शोषित श्रेणियों का आन्दोलन भी सभी राष्ट्रों में परस्पर सहयोग से ही चलना चाहिये।

समाजवाद और कम्यूनिज़्म की स्थापना साधनहीन और शोषित [illegible] कर शोषक श्रेणी का अस्तित्व

मिटा देने से ही होती है। यदि किसी देश की शोषित श्रेणी केवल अपने ही देश की शोषक श्रेणी को मिटाकर सन्तोष कर लेती है तो दूसरे देशों की पूँजीपति श्रेणियाँ उस देश पर आक्रमण करेंगी। समाजवादी देश पर पूँजीपतियों का यह आक्रमण न केवल सस्ता व्यापारिक माल उस देश में भेजकर, या कच्चा माल और दूसरे आवश्यक पदार्थ उस देश में भेजना बन्द कर, उस देश के उद्योग-धन्दों को नष्ट करने के रूप में हो सकता है बल्कि सशस्त्र और सैनिक आक्रमण द्वारा भी हो सकता है। क्योंकि किसी एक देश में साधनहीन और शोषित श्रेणी की अपनी व्यवस्था क़ायम करने में सफलता दूसरे सभी देशों की शोषित और साधनहीन श्रेणियों को इस प्रकार की क्रान्ति के लिये उत्साहित कर सकती है और दूसरे देशों में पूँजीपति श्रेणी के लिये आपत्ति खड़ी कर सकती है। इसलिये पूँजीपतियों में परस्पर विरोध और मुकाबिला जारी रहने पर भी शोषित और साधनहीन श्रेणी के पूँजीवाद को नष्टकर देने के आन्दोलन के मुकाबिले में वे सब एक हो उसे कुचल देने का यत्न कर रहे हैं। इस विचार से मार्क्स, और मार्क्सवाद को क्रियात्मक रूप देनेवाले लेनिन ने समाजवाद और कम्यूनिज़्म को एक देश का आन्दोलन नहीं बल्कि, अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बताया है! इन दोनों का ही कहना है कि समाजवाद किसी एक देश में पूर्णता नहीं पा सकता। समाजवाद की पूर्ण सफलता के लिये उसका सभी राष्ट्रों में स्थापित होना ज़रूरी है। वास्तविक समाजवाद की स्थापना के लिये एकही देश के किसान-मज़दूरों और साधनहीन लोगों की क्रान्ति पर्याप्त नहीं हो सकती। उसके लिये साधनहीन शोषित श्रेणी की संसार व्यापी क्रान्ति की आवश्यकता है।

लेनिन के पश्चात् रूस में समाजवादी व्यवस्था चलाने का काम कम्यूनिस्ट दल ने स्टैलिन को सौंपा। ट्राट्स्की भी मार्क्सवाद का बहुत बड़ा विद्वान और विशेषज्ञ समझा जाता था। रूस की क्रान्ति के पुराने

नेताओं में से होने के कारण उसका प्रभाव भी कम न था। रूस में समाजवाद को सफल बनाने और समाजवाद के लिये विश्व-क्रान्ति करने की तैयारी के कार्यक्रम के बारे में इन दोनों का मतभेद हो गया। वह मतभेद यहाँ तक बढ़ा कि वह सिद्धान्तों का भेद जान पड़ने लगा। रूस की समाजवादी व्यवस्था और कम्यूनिस्ट पार्टी ने स्टैलिन की नीति को अधिक युक्ति संगत समझ उसके अनुसार ही अपना कार्यक्रम निश्चित् किया। रूस की समाजवादी व्यवस्था और रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी के निर्णय को स्वीकार न करने के कारण ट्राट्स्की को रूस से निर्वासित कर दिया गया।

हम ऊपर कह आये हैं, ट्राट्स्की और स्टैलिन का भेद वास्तव में कार्यक्रम का ही भेद है, इसलिये उसे सफलता से ही जाँचा जा सकता है। दोनों नेताओं का यह मतभेद प्रायः १९२१ में लेनिन की मृत्यु के बाद ही प्रकट हो गया था। तब से आज तक रूस की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिस प्रकार बढ़ी है, उसका सब श्रेय स्टैलिन की नीति को ही है। सिद्धान्त रूप से संसार व्यापी क्रान्ति के सिद्धान्त को ठीक मान कर यदि रूस में समाजवादी क्रान्ति हो जाने के बाद वहां की जनता की शक्ति को अपने देश में शक्ति और व्यवस्था क़ायम करने के लिये उपयोग में न लाकर दूसरे देशों में क्रान्ति करने की चेष्टा में ख़र्च किया जाता तो इसका क्या परिणाम होता ? प्रथम तो सभी देशों में क्रान्ति के योग्य परिस्थितियाँ एक ही समय न आ सकतीं और सफल क्रान्ति करने के लिये किसी देश में मौजूद अवस्थायें और क्रान्ति करने वाली श्रेणी की इस काम के लिये तैयारी का सबसे अधिक महत्व है।

यदि किसी देश में इस प्रकार की परिस्थितियाँ नहां और उस देश की साधनहीन श्रेणी इस क्रान्ति के लिये तैयार नहीं तो उस देश में जाकर रूस के क्रान्ति करने की चेष्टा का अर्थ होगा, समाजवादी देश का दूसरे देश पर आक्रमण जो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

ऐसी अवस्था में पूँजीवादी देश की साधनहीन श्रेणियाँ, जिनमें अभी चेतना और संगठन नहीं हुआ है, रूस को अपना शत्रु समझ देशभक्ति के विश्वास से पूँजीवादियों के नेतृत्व में समाजवादी देश की साधनहीन श्रेणी से, जिन्होंने क्रान्तिद्वारा शक्ति प्राप्त करली है, युद्ध करने लगेंगी। साधनहीन श्रेणी का यों परस्पर लड़ मरना न केवल सफल क्रांति नहीं कर सकता, बल्कि समाजवादी शक्ति को, जहाँ वह सफल हो सकी है वहाँ भी नष्ट कर देगा। ऐसी अवस्था में उन पूँजीवादी देशों से, जहाँ शोषित श्रेणी अभी क्रान्ति के लिये तैयार नहीं, झगड़ा मोल न लेकर एक देश में समाजवाद की सफल होती हुई शक्ति के उदाहरण से और पूँजीवादी देश पर सीधे आक्रमण न कर उस देश की साधनहीन प्रजा को दूसरे उपायों से ही क्रान्ति के लिये तैयार करना ही पूँजीवादी देश की साधनहीन श्रेणी की वास्तविक सहायता होगी। इसके अतिरिक्त उस समय स्वयम रूस में समाजवादी व्यवस्था की सफलता प्रमाणित किये बिना दूसरे देशों की साधनहीन श्रेणियों को राह दिखाने की कोशिश करना एक अच्छा मज़ाक हो जाता।

अभी तक केवल एक ही देश में समाजवादी क्रांति द्वारा साधनहीन श्रेणी ने शक्ति प्राप्त की है। यदि एक देश में प्राप्त यह शक्ति संसार के सभी देशों के संयुक्त पूँजीपतियों के मुक़ाबिले में लगा दी जाती तो यह शक्ति छिन्न-भिन्न होकर किसी भी देश के पूँजीपतियों का मुक़ाबिला सफलता पूर्वक न कर सकती।

रूस में समाजवादी व्यवस्था क़ायम होने पर संसार की सभी बड़ी बड़ी शक्तियों ने मिल कर आक्रमण द्वारा इस व्यवस्था को असफल करने की चेष्टा की थी। चार साल तक इन शक्तियों से लड़कर रूस ने बहुत भारी नुक्सान बर्दाश्त कर किसी प्रकार अपनी व्यवस्था को क़ायम रखा। इस आक्रमण की अवस्था में रूस की जन संख्या बहुत घट गई और रूस की जनता को जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों को पैदा करने

के बजाय युद्ध की सामग्री पैदा करने और युद्ध लड़ने में ही लगे रहना पड़ा। इसका परिणाम हुआ कि रूस में भयंकर दुर्भिक्ष और बीमारियाँ फैल गईं। चार वर्ष तक इस संकट को झेलने के बाद यदि ट्राट्स्की की नीति पर ही रूस अमल करता तो फिर से दूसरे देशों पर आक्रमण कर रूस उसी अवस्था में अनेक वर्ष के लिये फँस जाता और संसार की पूँजीवादी शक्तियों के मुक़ाबिले में जिन्हें किसी भी वस्तु की कमी न थी, रूस हार जाता और यह लोग रूस को आपस में बाँटकर वहाँ अपने उपनिवेश बसाकर समाजवादी व्यवस्था की सफलता को अनेक वर्षों के लिये असम्भव कर देते।

मार्क्सवाद में विश्वास रखने और साधनहीन श्रेणी की सांसार-व्यापी क्रान्ति को अपना उद्देश्य समझने के कारण यदि रूस का कर्तव्य इस काम को निभाना है, तो उसे इस काम के लिए शक्ति संचय भी करना होगा। जो शक्ति संसार भर की पूँजीवादी शक्तियों से लड़ना चाहती है, उसे उसके लिए तैयारी भी करनी होगी। इसलिए पहले शक्ति संचय किये बिना उसे बिखेरते जाना परिस्थितियों को नज़र में रखकर काम करना न होता, जो कि मार्क्सवाद का आधार भूत सिद्धान्त है।

रूस की यह नीति सफलता की कसौटी पर ठीक उतर जाने पर भी स्टैलिन का कहना है कि मार्क्सवाद का सिद्धान्त संसारव्यापी क्रान्ति ही है और वास्तव में ही किसी देश में समाजवाद उस समय तक सफल नहीं हो सकता जब वह सम्पूर्ण संसार में क़ायम न हो। निसन्देह रूस में साधनहीन श्रेणी के हाथ शक्ति आ जाने के बाद यदि रूस को अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुओं का भय न होता तो वहाँ सर्व साधारण जनता की अवस्था इससे कहीं अधिक अच्छी हो सकती थी जैसी कि आज है। यह बात केवल समाजवाद की अन्तरराष्ट्रीय सफलता से ही सम्भव है।

संसार के पूँजीवादी देशों के विरोध के कारण रूस को भी युद्ध के

लिये तैयार रहना पड़ा। युद्ध की यह तैयारी भी ऐसी कि संसार भर के पूँजीवादी देशों की संयुक्त शक्ति के विरुद्ध आत्मरक्षा की तैयारी। इस तैयारी के लिये रूस को जो हज़ारों ही हवाई जहाज़, हज़ारों टैंक और हज़ारों मील लम्बी किलाबन्दी करनी पड़ी और अपने लाखों जवानों को सिपाही सजाकर रखना पड़ा, उसमें जितनी शक्ति नष्ट हुई यदि वह सब रूस अपनी प्रजा के औद्योगिक विकास के लिये कर सकता या विश्व क्रान्ति के लिये कर सकता तो संसार की अवस्था कहीं अधिक उन्नत हो जाती। परन्तु युद्ध के लिये तैयार न रहने का अर्थ होता, किसी भी दिन जर्मनी या इटली उसे मारपीट कर ठीक कर देते और विश्व-क्रान्ति का हवाई महल गिरकर समाप्त हो जाता। मार्क्सवाद के विश्व क्रान्ति के सिद्धान्त को सफल करने के लिये पहले एक देश में समाजवादी क्रान्ति की शक्ति को दृढ़ करना ही ज़रूरी था।

## मार्क्सवाद का आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट व्यवस्था—

मकार्सवादी विचारधारा का उद्देश्य संसार से पूँजीवादी व्यवस्था को दूरकर एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट व्यवस्था की स्थापना करना है। मनुष्य-समाज विकास के मार्ग पर अनेक व्यवस्थाओं से गुजरता हुआ पूँजीवादी व्यवस्था में पहुँचा है। पूँजीवादी व्यवस्था समाज को उन्नति के मार्ग पर जहाँ तक ले जा सकती थी जा चुकी है। अब उसमें इस प्रकार की अड़चनें पैदा हो गई जिन्हें यदि दूर नहीं किया जायगा तो वे मनुष्य समाज को अवनति के गड्ढे में गिरा देंगी। समाज की अन्तर-राष्ट्रीय व्यवस्था से इन अड़चनों को दूर करने का एक ही उपाय है और वह अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट व्यवस्था।

कम्यूनिस्ट व्यवस्था में जीवन की आवश्यकतायें पूर्ण करने वाले पदार्थ पूँजीपतियों द्वारा मुनाफ़ा कमाने के लिये उत्पन्न नहीं किये जायेंगे, दूसरे के परिश्रम से लाभ उठाने का अवसर किसी को न होगा, पूँजी-

पति लोग समाज की आवश्यकता का विचार न कर निजी लाभ के लिये किसी पदार्थ को बहुत अधिक और किसी को बहुत कम पैदाकर गड़बड़ न मचा सकेंगे, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का और एक श्रेणी दूसरी श्रेणी का शोषण न कर सकेगी। श्रेणियों में परस्पर विद्रोह और विरोध न रहेगा, श्रेणियों और राष्ट्रों के आपस के विरोध से मनुष्यों का परिश्रम और अपार सम्पत्ति युद्ध में नष्ट न होकर समाज के कल्याण के लिये ख़र्च होगी।

पैदावार समाज की आवश्यकताओं का अनुमान कर उन्हें पूरा करने के लिये की जायगी। उद्योग धन्दों और कला-कौशल के विकास से पैदावार के साधनों की इतनी उन्नति की जायगी कि शारीरिक परिश्रम लोगों को अरुचिकर और अप्रिय न मालूम हो। जीविका निर्वाह के लिये परिश्रम एक मुसीबत न होकर शौक़ के रूप में हो। सभी लोगों की आवश्यकतायें पूर्ण हों और असमानता न रहे। दिमाग़ी और शारीरिक काम में से एक सम्मान जनक और दूसरा असम्मान जनक न समझा जाय। परिश्रम के कामों के सहल बन जाने से स्त्री की शारीरिक निर्बलता का परिणाम भी दूर हो जाय और स्त्री-पुरुष की असमानता दूर हो जाय। समाज में मनुष्य द्वारा मनुष्य का और एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का शोषण न रहे। नगर और गाँव के हितों का विरोध भी न रहे। औद्योगिक पैदावार यथेष्ट बढ़ सकने के कारण नगरों का वैभव गावों की लूट पर न हो। गाँव और नगर अपने-अपने साधनों से अपने जीवन को सुधारते जाँय।

इस अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट व्यवस्था तक पहुँचने का उपाय वैज्ञानिक समाजवाद है। यह समाजवाद वह अवस्था होगी जिसमें वर्तमान साधनहीन शोषित श्रेणी उनपर लगाये आर्थिक बन्धनों और पूँजीवादियों के स्वार्थ के लिये शोषण जारी रखने के लिये क़ायम की गई राजनैतिक व्यवस्था, पूँजीपतियों की तानाशाही हटाकर मेहनत करने

वाली श्रेणियों के नेतृत्व में ऐसी सामाजिक व्यवस्था क़ायम कर लेगी जिसमें 'सभी व्यक्तियों को जीवन निर्वाह के साधनों के लिये अपने आपको योग्य बनाने का समान अवसर होगा और सभी लोग अपनी मेहनत का पूरा फल पा सकेंगे।' समाज में शोषण का आधार श्रेणियाँ और श्रेणियों के हितों का भेद न रहेगा।

ऐसी व्यवस्था क़ायम करने के लिये एक नयी आर्थिक प्रणाली की ज़रूरत है। मौजूदा समाज की आर्थिक व्यवस्था में उठ खड़ी होने वाली अड़चनों को दूर करने से यह प्रणाली तैयार होगी। इन अड़चनों के कारण समझने के लिये और इन्हें दूर करने का उपाय जानने के लिये इतिहास का अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण से करना और अर्थ शास्त्र को वैज्ञानिक आधार पर जाँचना ज़रूरी है।

---

# मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

## समाज में श्रेणियाँ और उनके सम्बन्ध

मार्क्सवाद के मत से समाज के आर्थिक विकास का आधार श्रेणियों का संघर्ष है। समाज में प्रधानतः दो श्रेणियाँ रहती हैं। एक वे लोग जो नगरों के सुन्दर और स्वस्थ भागों के अच्छे मकानों में रहते हैं, जिनके लिये जीवन की आवश्यक वस्तुयें और सुविधायें रहती हैं। दूसरे वे लोग नगरों के गन्दे भागों और छोटे मकानों में चाँथड़ों से लिपटे दिन बिताते हैं उनके चेहरे पर थकान के चिन्ह रहते हैं। पहली अवस्था के लोग सब प्रकार के साधनों के मालिक हैं। दूसरी अवस्था के लोगों के हाथ अपने शरीर से मेहनत करने की शक्ति के अलावा और कोई उपाय जीवन निर्वाह का नहीं। पहली अवस्था के लोगों को पैदावार के साधन

का मालिक, ज़मीन्दार या पूँजीपति कहा जाता है और दूसरी अवस्था के लोगों को साधनहीन, किसान या मज़दूर।

संसार के सभी देशों में यह दोनों श्रेणियाँ मौजूद हैं। पूँजीपति या भूमि के मालिक समाज की व्यवस्था चलाते हैं, उसका प्रबन्ध करते हैं। मज़दूर किसान लोग प्रबन्ध और व्यवस्था के अनुसार काम करते हैं। किसान-मज़दूरों के बिना ज़मींदार और पूँजीपति लोगों का काम नहीं चल सकता। इन के बड़े-बड़े व्यवसाय चलाने के लिये मेहनत करने वाले लोगों की एक बड़ी संख्या का होना ज़रूरी है जो मेहनत करें और मालिक श्रेणी को लाभ उठाने का मौका दें। यह कैसे हो सक्ता है कि एक श्रेणी मेहनत करे और दूसरी श्रेणी लाभ उठाये ? या यह कहिये कि सम्पन्न श्रेणी के लोग जो कड़ी मेहनत नहीं करते, अपने भोग और उपयोग के लिए धन कहाँ से पा जाते ? यह रहस्य समझने के लिये हमें देखना चाहिए कि समाज में उपयोग के पदार्थ किस प्रकार तैयार होते हैं।

जो लोग मकान, कपड़ा आदि उपयोग की वस्तुयें तैयार करते हैं या अनाज पैदा करते हैं, वे जानते हैं कि इन सब पदार्थों को तैयार करने के लिए मनुष्य को अपने शरीर से परिश्रम करना पड़ता है। पृथ्वी को जोतकर या खानों को खोदकर परिश्रम से वस्तुयें तैयार होती हैं। प्रकृति और पृथ्वी में सब कुछ होते हुए भी मनुष्य के परिश्रम के बिना उपयोग के लिये कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

हम देखते हैं, पैदावार का काम व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता। मिलों और कारख़ानों में जो बड़ी या छोटी वस्तुएँ तैयार होती हैं उन्हें तैयार करने में हज़ारों-लाखों आदमियों की मेहनत मिली रहती है। लोहे के पृथ्वी से निकाले जाकर सूई बनने तक या जमीन को जोतकर कपास पैदा करने से लेकर उसका कुरता बन जाने तक, कितने ही आदमियों की मेहनत उसमें लगती है। यह बात न केवल मिलों से

तैयार होने वाले सामान की बाबत ही ठीक है बल्कि हल बैल से की जानेवाली खेती के सम्बन्ध में भी यही बात है। एक हल तैयार करने वाले के लिये ज़रूरी सामान और बढ़ई के हथियारों को बनाने के लिये भी सम्पूर्ण समाज की मेहनत दरकार होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पदार्थों की पैदावार का काम हमारे समाज में सम्मिलित तौर पर होता है।

पदार्थों को तैयार करने के लिये कुछ वस्तुओं की ज़रूरत रहती है: जैसे मकान बनाने के लिये ईंट, लकड़ी या अनाज पैदा करने के लिये बीज, धरती आदि यह पदार्थ पैदावार के साधन हैं। इन वस्तुओं के बिना पदार्थ पैदा नहीं किये जा सकते, यह ठीक है; परन्तु मनुष्य के परिश्रम के बिना भी इन वस्तुओं से पदार्थ पैदा नहीं हो सकते। पैदावार के साधन और मनुष्य का परिश्रम यह दोनों मिलकर ही पदार्थों को पैदा कर सकते हैं। किसी मनुष्य या श्रेणी का समाज में क्या स्थान है, उसका दूसरे मनुष्यों या श्रेणियों से क्या नाता है, यह इस बात से निश्चय होता है कि पैदावार के साधनों से उस मनुष्य या श्रेणी का क्या सम्बन्ध है। उदाहरणतः कई सौ वर्ष पहले जब अभी कल-कारखाने नहीं बन पाये थे, पदार्थों की पैदावार अधिकतर खेती से होती थी। उस अवस्था में भूमि का मालिक ही समाज का शासन करता था और भूमि की पैदावार का बंटवारा उसी की इच्छा अनुसार होता था। भूमि को जोतकर पैदावार करने वाले उसकी कृपा पर निर्भर करते थे। आजकल पैदावार का बड़ा भाग कल कारखानों में बनता है इसलिये कल कारखानों के मालिक ही समाज में मालिक हैं और पैदा किये गये पदार्थ उन्हीं के निर्णय के अनुसार समाज में बँटते हैं।

पैदावार करने के सिलसिले में जितने मनुष्य एक प्रकार का काम करते हैं, वे प्रायः एक ही से ढंग से रहते भी हैं और उनकी एक श्रेणी बन जाती है। इस श्रेणी की पैदावार से जिस प्रकार का सम्बन्ध होता

है वैसी ही समाज में उसकी स्थिति रहती है। यदि यह श्रेणी पैदावार के साधनों की मालिक है तो इन साधनों से काम करने वाली श्रेणी पर उसका शासन होगा। वह इन साधनों से पैदा किये गये पदार्थों की मालिक भी होगी और इन पदार्थों को अपनी इच्छा अनुसार बाँट सकेगी। जो श्रेणी पैदावार के साधनों की मालिक नही उसे अपने परिश्रम से पदार्थ तैयार करने के बाद पैदावार का केवल उतना भाग मिलेगा जितना कि साधनों की मालिक श्रेणी देना चाहेगी।

साधनों की मालिक श्रेणी सदा ही मेहनत करने वाली श्रेणी से मेहनत कराकर पैदावार का अधिक भाग अपने पास रखने की कोशिश करती है और मेहनत करने वाली श्रेणी अपने जीवन निर्वाह के लिये इन पदार्थों को स्वयम् ख़र्च करना चाहती है। इस प्रश्न पर इन दोनों श्रेणियों में तनातनी और संघर्ष चलता रहता है और यह तनातनी तथा संघर्ष ही श्रेणियों में बँटे मनुष्य समाज के आर्थिक विकास की कहानी है। मालिक श्रेणी और मेहनत करने वाली श्रेणी का यह संघर्ष स्वाभाविक है। पूँजीवाद के ज़माने में कल कारखानों के विराट रूप धारण कर लेने के कारण यह संघर्ष भी बहुत बड़े परिमाण में बढ़ गया है।

जब तक पैदावार के साधन छोटे-छोटे और मामूली थे, उनके कारण होने वाला श्रेणियों का भेद भी मामूली था। जब यह साधन बहुत उन्नत हो गये—जैसा कि पूँजीवादी समाज में है श्रेणियों के भेद ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। पैदावार के काम से सम्बन्ध रखने वाली इन दोनों श्रेणियों के भेद बढ़ते बढ़ते ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं कि श्रेणियों का यह भेद और परस्पर विरोध आगे पैदावार के मार्ग में अड़चन बनने लगते हैं। अर्थात्, एक श्रेणी को पैदावार के साधनों और पैदावार की मालिक और दूसरी श्रेणी को मेहनत करने वाली बनाये रखकर आगे पैदावार करना बहुत कठिन हो जाता है।

मार्क्सवाद कहता है, ऐसी अवस्था में इन सम्बन्धों को बदलने की ज़रूरत पड़ती है। समाज में श्रेणियों के सम्बन्धों का बदलना ही क्रांति है। मौजूदा पूँजीवादी समाज में क्रान्ति का अर्थ है कि साधनहीन श्रेणी इन सम्बन्धों को बदल दे और पैदावार की राह में आने वाली रुकावटों को दूर कर समाज के जीवन की राह साफ़ करले। ऐसा करने के लिये पैदावार के साधनों पर साधनहीन श्रेणी का अधिकार ज़रूरी होगा।

परन्तु वर्तमान समाज में पैदावार के साधनों की स्वामी श्रेणी यह परिवर्तन प्रसन्नता से स्वीकार न करेगी। यह श्रेणी अपने स्वार्थ के लिये साधनहीन श्रेणी को पैदावार के साधन अपने हाथ से लेने न देगी और उन्हें उसी अवस्था में रखने का यत्न करेगी जिस अवस्था में साधनहीन श्रेणी आज है। परन्तु इस अवस्था में साधनहीन श्रेणी का जीवन प्रायः असम्भव हो गया है। इसलिये पैदावार के साधनों पर अधिकार के उद्देश्य से इन दोनो श्रेणियों में संघर्ष स्वाभाविक है।

पूँजीवादी श्रेणी और उसके सहायक अपने अधिकारों की रक्षा के लिये कहते हैं कि समाज की वर्तमान अवस्था बिलकुल स्वाभाविक और प्राकृतिक नियमो के अनुसार चालू है। यह नियम बदल देने से समाज का नाश हो जायगा। परन्तु मार्क्सवाद का सिद्धान्त है कि समाज के नियम और सिद्धान्त उसकी अवस्था और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है। इस सम्बन्ध में हम मार्क्सवाद के विचार पहले अध्यायों में स्पष्ट कर आये हैं।

पूँजीवाद का विकास—

अब तक मनुष्य समाज का लिखित इतिहास एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का शोषण रहा है। समाजवादी विचारों ने मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का विरोध कर एक नये युग का आरम्भ किया

है। इस नये युग की विशेषता समाज से श्रेणियों का अन्तर मिटा देना और शोषण के साधनों और कारणों को समाप्त कर देना है। समाज में श्रेणियों का अन्त करने का यत्न करने के लिये यह समझ लेना भी ज़रूरी है कि समाज में श्रेणियाँ बनी कैसे ?

समाज में श्रेणियों का होना आवश्यक सिद्ध करने के लिये पूँजी-वादी कहते हैं कि समाज सदा से श्रेणियों का समूह रहा है। इतिहास इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर चुका है कि मनुष्य समाज में पारिवारिक और वैयक्तिक सम्पत्ति जमा करने का क़ायदा चलने से पहले मनुष्यसमाज हज़ारों वर्ष तक बिना किसी श्रेणी भेद के आदिम कुटुम्बवाद ( Premitive communism ) की अवस्था में रहता रहा है। जब तक कुछ व्यक्ति सम्पन्न और कुछ साधनहीन हैं शोषण का साधन और कारण नहीं हो सकता।

पारिवारिक या वैयक्तिक सम्पत्ति का क़ायदा चलने पर ही शोषण की सम्भावना पैदा हुई और शोषण का पहला शिकार था ग़ुलाम। ग़ुलाम प्रथा का आरम्भ होने पर समाज मालिक और ग़ुलाम दो श्रेणियों में बँट गया। इसके पश्चात् मध्य युग में जब सामन्तों और सरदारों के राज्य का ज़माना आया, इन सरदारों की भूमि पर बसने वाली प्रजा ( रैयत ) का शोषण होने लगा इन्हें मालिक की इच्छा बिना न कोई काम करने की स्वतंत्रता थी और न उसकी ज़मीन छोड़कर कहीं जाने की। इन्हें मालिक की भूमि जोत कर पैदावार करनी ही पड़ती थी और पैदावार का एक बड़ा भाग सरदार को देना ही पड़ता था। इसके पश्चात् उद्योग धन्दों की उन्नति के ज़माने में अपने परिश्रम की शक्ति को बेचने वाले मज़दूर की बारी आती है। जिसके पास पैदावार के साधन नहीं, जो पेट के लिये पैदावार के साधनों के मालिक के हाथ अपने परिश्रम की शक्ति बेचता है। मालिक उसके श्रम से अधिक से अधिक लाभ उठाकर कम से कम मूल्य उसके परिश्रम का देकर उसे विदा कर देता

है। मालिक पर मज़दूर के जीवन की रक्षा की ज़िम्मेदारी भी नहीं; इसलिये वह मज़दूर की शक्ति का शोषण खूब निर्दयता पूर्वक करता है। 'मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आधार' प्रकरण में इस विषय पर हम विचार कर आये हैं कि औद्योगिक विकास से पूर्व शोषित श्रेणियों— गुलामों और रैयत का शोषण एक सीमा तक ही हो सकता था। उस समय एक मनुष्य की पैदावार की शक्ति बहुत सीमित थी और गुलाम और रैयत को ज़िन्दा रखने के लिये उन्हें आवश्यक पदार्थ देने की जिम्मेदारी भी मालिक पर थी क्योंकि इन लोगों के मर जाने से मालिक का अपना नुक़सान था।

उस समय शोषण की सीमा दो बातों से निश्चित होती थी एक तो गुलाम की शारीरिक शक्ति की सीमा और दूसरे उसके जीवन की रक्षा के लिए ज़रूरी ख़र्च। इस प्रकार एक औसत मनुष्य द्वारा की जा सकने वाली पैदावार में से एक औसत मनुष्य के जीवन के लिये जो ख़र्च ज़रूरी था, उसे निकाल देने पर जो बचता था वही भाग मालिक का लाभ था। परन्तु औद्योगिक विकास के बाद पूँजीवाद में मशीन द्वारा एक मनुष्य से कराये जानेवाली पैदावार की तादाद कई गुणा बढ़ गई और अभी और बढ़ सकती है। आज दिन पूँजीपति मालिक एक मनुष्य ( मज़दूर ) से पैदावार तो कहीं अधिक करा सकता है परन्तु उस के स्वतंत्र होने से उसके स्वास्थ्य और जीवन रक्षा की जिम्मेवारी मालिक पर नहीं। मालिक के लिये यह ज़रूरी नहीं कि मज़दूर से काम लेने के बाद उसे या उसके परिवार का पेट भरने लायक़ मज़दूरी ज़रूर दी जाय। मज़दूर को यदि मालिक आधा पेट भोजन के पैसों पर काम करने के लिए राज़ी कर सकता है तो वह उसे आधा पेट भोजन के पैसे देकर ही अपना काम करा सकता है। मशीनों पर कई कई मज़दूरों का काम एक आदमी के कर सकने के कारण मज़दूरों की कम संख्या में ज़रूरत होने लगी और मज़दूर अधिक संख्या में हो गये। बाज़ार में मज़दूरी उन्हीं मज़दूर

को मिलेगी जो कम से कम मज़दूरी पर काम करने के लिये तैयार हो—या कहिए जो अधिक काम कर और कम मज़दूरी ले मालिक को अधिक लाभ पहुँचा सके। इस प्रकार हम देखते हैं, आज दिन का पूँजीपति मालिक अपने साधनहीन शिकार से पुराने ज़माने के शोषकों की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ उठा रहा है। पुराने समय में मालिक एक सीमा के अन्दर ही शोषण कर सकता था, प्रथम तो एक औसत मनुष्य की पैदावार की सामर्थ्य से अधिक पैदा नहीं कराया जा सकता था दूसरे उसे जीवित और मजबूत रखने के लिये उसे पर्याप्त पदार्थ देने पड़ते थे। आज दिन पूँजीपति मशीन की सहायता से मज़दूर द्वारा जितनी पैदावार करा सकता है वह पहले से कई गुणा बढ़ गई है और मज़दूर के पूँजीपति की सम्पत्ति न होने से उसके मर जाने या कमज़ोर हो जाने से पूँजीपति को आर्थिक हानि नहीं होती इसलिए पूँजीपति उसे आवश्यक मज़दूरी से कम देने में नहीं हिचकता।

विनिमय—

जिस समय मनुष्य बिलकुल आरम्भिक अवस्था में कुटुम्बों और क़बीलों के रूप में रहता था, कबीले के निर्वाह के लिये ज़रूरी पदार्थ सब लोग मिल जुलकर पैदा करते थे। कुछ आदमी एक काम करते तो दूसरे आदमी दूसरा काम, यह एक प्रकार से क़बीले के मनुष्यों में ज़रूरी परिश्रम को बाँट कर करने का ढंग था। पैदावार के लिये आवश्यक परिश्रम बाँट कर करने से ही विनिमय का आरम्भ होता है। एक व्यक्ति एक प्रकार का श्रम करता। वह श्रम दूसरों को न करना पड़ता। दूसरे व्यक्ति उसके लिये दूसरे प्रकार का श्रम करते। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये किये गये परिश्रम का बदला चुकाता है और बदला पाता भी है। और यदि वह कोई पूरा पदार्थ तैयार करता है तो उसे उस पदार्थ की जितनी आवश्यकता है, उससे बहुत अधिक परिमाण में वह उस पदार्थ को तैयार कर लेता है, जिसे दूसरे लोग व्यवहार में लाते हैं।

दूसरे लोगों द्वारा तैयार किये गये पदार्थों को वह मनुष्य अपने व्यवहार में लाता है।

आरम्भ में दो क़बीले अपनी आवश्यकता से बचे पदार्थों का विनिमय आपस में करलेते थे। विनिमय पदार्थों के रूप में और परिश्रम के रूप में भी होता है। किसी पदार्थ का मूल्य उसके लिये किये गये श्रम से ही निश्चित होता है। आम उपयोग का कोई पदार्थ परिश्रम का माप समझ लिया गया। जिन क़बीलों या देशों में पशु पालन का रिवाज़ चल गया वहाँ प्रायः पशुओं के मूल्य के आधार पर पदार्थों को ले देकर विनिमय किया जाने लगा। आरम्भ में विनिमय केवल मौक़े की बात थी परन्तु अनेक देशों की सीमाओं पर रहने वाले क़बीलों ने विनिमय में लाभ होता देख कर अपने देशों से सामान ले लेकर दूसरे देशों से विनिमय करना शुरू किया। जहाँ पहले पदार्थ केवल उपयोग के लिये तैयार किये जाते थे वहाँ अब विनिमय के लिये तैयार होने लगे। जब पदार्थ केवल निजी उपयोग और व्यवहार के लिये तैयार होते थे उस समय उन्हें स्वाभाविक आवश्यता के अनुसार पैदा किया जाता था। जब पदार्थ विनिमय के लिये पैदा किये जाने लगे, उनके पैदा करने का उद्देश्य उन्हें व्यवहार में लाना नहीं बल्कि उन्हें दूसरों को देकर और दूसरों द्वारा तैयार किये गये पदार्थों को लेकर उन्हें फिर से विनिमय में देकर लाभ उठाना हो गया। पैदावार उपयोगी पदार्थों के रूप में नहीं बल्कि सौदे के रूप में होने लगी। पदार्थ के लिये किये गये परीश्रम की नाप तोल के लिये सिक्के या रुपये का व्यवहार चल जाने से विनिमय का काम आसान हो गया और वह अधिक मात्रा में होने लगा। इससे धन के दो रूप हो गये, एक पदार्थ दूसरा रुपया।

मालिक लोग अपने उपयोग में पदार्थों को एक ख़ास मात्रा में ही ला सकते थे इसलिये धन जब तक पदार्थ के रूप में रहा कोरस एक सीमा के भीतर रहता था परन्तु जब मोटरस मशीनों की पैदावार ने

रुपये के रूप में पूँजी बटोरने के लिये होने लगा, उसकी सीमा न रही। पूँजीपति मुनाफा केवल अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नहीं कमाते। वे मुनाफा कमा पूँजी इकट्ठी कर शक्ति बढ़ाने के लिये ही ऐसा करते हैं। पूँजी को किसी भी हद तक बटोर कर आगे मुनाफ़ा कमाने में लगाया जा सकता है।

इस तरह पूँजीवाद में पैदावार उपयोग के लिये नहीं सौदे के रूप में होने लगती है। पैदावार के साधनों के मालिकों का उद्देश्य पैदावार करने में समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं बल्कि सौदा तैयार कर विनिमय से रुपये के रूप में मुनाफ़ा कमाना हो जाता है। मुनाफ़ा जमा होकर पूँजी बन जाता है और भविष्य में और अधिक मुनाफ़ा कमाने का साधन बन जाता है।

मुनाफा ?—

सौदा बिक्री के लिये होता है। सौदा तैयार करने के लिये कुछ सामान ख़रीदना पड़ेगा। इस सामान को अपनी मेहनत से सौदे का रूप देकर व्यक्ति बाज़ार में बेचता है। सौदे के दाम में से खरीदे हुए सामान का दाम निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह सौदा तैयार करने वाले का लाभ या मेहनत का दाम है। इसी प्रकार जब पूँजीपति बड़े परिमाण में सौदा तैयार कराता है तब उसका मुनाफ़ा भी काम पर लगाये मज़दूरों की मेहनत से ही होता है। सौदे के मूल्य में से कच्चे माल का मूल्य निकाल देने पर केवल सौदे पर खर्च की गई मेहनत का मूल्य ही बच जायगा। यदि पूँजीपति मेहनत का भी पूरा-पूरा मूल्य मज़दूर को दे दे तो मुनाफ़े की गुंजाइश नहीं रहती। पूँजीपति को मुनाफा तभी हो सकता है जब वह मेहनत करने वाले की मेहनत का पूरा मूल्य न दे। पूँजीपति के मुनाफे का आधार मेहनत करने वाले की मेहनत का पूरा मूल्य न देना ही है।

जब तक पैदावार के साधन ऐसे थे कि मेहनत करने वाले उन्हें अपने पास रखकर उनसे सौदा तैयार कर बाज़ार में बेच सकते थे, वे अपने परिश्रम का पूरा मूल्य पा सकते थे। परन्तु जब पैदावार के साधन पूँजीपति के हाथ में चले गये और मेहनत करने वालों को अपनी मेहनत से तैयार किये गये पदार्थों को खुद बेचने का अधिकार न रहा, बल्कि उन्हें अपनी मेहनत ही बेचनी पड़ी, तब उनकी मेहनत का मूल्य निश्चय करना पूँजीपति के बस की बात होगई। इस अवस्था में पूँजीपति मेहनत का मूल्य, मेहनत से होने वाली पैदावार के मूल्य से बहुत कम देगा। मेहनत करने वाले के पास अपना पेट भरने के लिये अपनी मेहनत बेचने के सिवा कोई चारा नहीं। पूँजीवाद के युग में मशीनों की उन्नति हो जाने के कारण बहुत से मनुष्यों का काम मशीन की सहायता से थोड़े से मनुष्यों से कराया जा सकता है इसलिये मेहनत करने वाले बड़ी संख्या में बेकार पड़े रहते हैं। मेहनत करके पेट भरने के मौक़े के लिये इनमें होड़ चलती है। वे एक दूसरे से कम दाम में अपनी मेहनत बेचकर किसी तरह पेट भरने का मौक़ा पाना चाहते हैं। पूँजीपति इस परिस्थिति से लाभ उठाकर कम से कम मज़दूरी लेना स्वीकार करने वाले मज़दूर या नौकर को काम पर लगाता है और उससे अधिक से अधिक काम या पैदावार कराकर अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की कोशिश करता है।

### सौदे का दाम—

मनुष्य के उपयोग में अनेक पदार्थ आते हैं परन्तु सभी वस्तुओं का दाम बाज़ार में नहीं पड़ता, उदाहरणतः जल, वायु आदि। दाम उन्हीं वस्तुओं का पड़ता है जो बाज़ार में सौदे के रूप में आती हैं। समाज में पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली जारी होने से पहले पैदावार का सौदे के रूप में प्रकट होना ज़रूरी होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में

शोषण का रहस्य जानने के लिये यह समझना ज़रूरी है कि सौदा क्या है * ।

मनुष्य परिश्रम द्वारा जो पदार्थ उत्पन्न करता है, वे उसकी कोई न कोई आवश्यकता पूर्ण करने के लिये होते हैं । जिस पदार्थ से मनुष्य की कोई भी आवश्यकता पूर्ण न हो सके, उसे तैयार करने में परिश्रम न किया जायगा । कुछ पदार्थ ऐसे भी है जिन्हें तैयार करने के लिये मनुष्य परिश्रम नहीं करता परन्तु उनमें मनुष्य की आवश्यकता पूर्ण करने का गुण रहता है, उदाहरणतः जल, वायु और जंगली फल आदि। जो पदार्थ मनुष्य की आवश्यकता पूर्ण कर सकते हैं, उन्हें उपयोगी पदार्थ कहते हैं, पदार्थों के इस गुण को उपयोगिता ( Use value ) कहते हैं। जिन पदार्थों को मनुष्य अपने उपयोग के लिये पैदा करता है उन्हें उपयोगी पदार्थ कहते हैं और जिन पदार्थों को मनुष्य केवल विनिमय के लिये पैदा करता है उन्हें सौदा कहते हैं । सौदे में दो गुण रहते हैं, सौदे का एक गुण है कि वह मनुष्य के उपयोग में आ सकता है, दूसरा गुण सौदे का यह है कि वह दूसरे पदार्थों के परिवर्तन में लिया दिया जा सकता है, या उसका विनिमय हो सकता है । जिन दो पदार्थों का आपस में विनिमिय हो सकता है, वे दोनों ही सौदा कहलायेंगे और उन दोनों में ही उपयोगिता का गुण होगा । दो सौदों का विनिमय आपस में तभी हो सकता है जब दोनों में समान उपयोगिता हो या उन दोनों सौदों का दाम एक समान हो ।

पूँजीवादी समाज में पदार्थों की उत्पत्ति प्रायः सौदे के रूप में ही होती है या उन्हें विनिमय के लिये ही पैदा किया जाता हैं । सौदा पैदा करने वाले व्यक्ति के लिये उसके सौदे का मूल्य अपनी उपयोगिता की दृष्टि से कुछ नहीं, क्योंकि उसने उसे उपयोग में लाने के लिये पैदा नहीं किया । खरीदने वालों की दृष्टि में पदार्थ या सौदे का मूल्य उपयोग

* सौदा शब्द का व्यवहार ( Commodity ) शब्द के अर्थ में है ।

की दृष्टि से है परन्तु तैयार करने वाले के लिये सौदे का मूल्य विनिमय की दृष्टि से है ; अर्थात् उसका सौदा विनिमय में दूसरा सौदा कितना प्राप्त कर सकता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो अत्यन्त उपयोगी हैं परन्तु बाज़ार में उनका दाम नहीं पड़ता। कुछ पदार्थों का मूल्य या दाम कम होता है और कुछ का अधिक। उपयोगिता की दृष्टि से वस्तुओं के मूल्य में और उनके बाज़ारू मूल्य या दाम में भी भेद रहता है। उपयोगिता की दृष्टि से वस्तुओं के मूल्य का दर्जा उनकी आवश्यकता के अनुसार जाँचा जा सकता है। जो पदार्थ जीवन के लिये जितना आवश्यक होगा उपयोगिता की दृष्टि से उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा परन्तु बाज़ार मूल्य या दाम की दृष्टि से यह बात नहीं है। जीवन के लिये एक गिलास पानी का मूल्य सोने की ईंट से अधिक हो सकता है परन्तु बाज़ार में पानी के गिलास का मूल्य कुछ नहीं। सुविधा के लिये हम उपयोगिता की दृष्टि से पदार्थों के मूल्य को केवल मूल्य कहेंगे और बाज़ार मूल्य को दाम *। दाम का अर्थ किसी सौदे का विनिमय मूल्य है।

दाम का आधार श्रम है—

बाज़ार में बिक्री या विनिमय के लिये जितना सौदा आता है, वह एक दूसरे के विनिमय में लिया दिया जाता है। सभी सौदों का दाम होता है। हम बाज़ार में गेहूँ देकर सोना, सोना देकर चमड़ा, चमड़ा देकर कपड़ा ले सकते हैं। यह विनिमय रुपये की मार्फत भी हो सकता है और सौदे के दाम का अन्दाज़ा लगाकर भी उनका परस्पर विनिमय हो सकता है। जितने पदार्थ आपस में एक दूसरे के विनिमय में लिये

* मूल्य = Use Value दाम = Exchange Value. Price is the money of exchange Value.

दिये जा सकते हैं उनमें किसी न किसी गुण का एक समान रूप से होना आवश्यक है। सभी सौदे उपयोगी होते हैं, यह गुण उनमें समान रूप से होता है परन्तु उपयोगिता के आधार पर उनका दाम निश्चित नहीं होता, यह हम देख चुके हैं। सभी सौदों में दूसरा समान गुण यह है कि वे मनुष्य के परिश्रम का परिणाम हैं।

मनुष्य के परिश्रम का परिणाम होने के कारण ही सौदे का दाम होता है और किस सौदे में मनुष्य का कितना श्रम ख़र्च हुआ है, इसी विचार से उनका दाम कम या अधिक निश्चित होता है। किसी काम में कितना श्रम लगा है, इस बात का निश्चिय समय से होता है। किसी काम के करने में अधिक समय लगता है तो उसका दाम अधिक होगा, यदि कम समय लगता है तो कम दाम होगा। किसी सौदे का दाम अधिक है या कम, वह मँहगा है या सस्ता इस बात का अनुमान तभी हो सकता है जब उसे दूसरे सौदे के मुकाबिले में देखा जायगा। यदि रेशम के थान की क़ीमत अधिक है और रुई के थान की कम; तो इसका अर्थ होगा कि रेशम का थान बनाकर बाज़ार तक लाने में अधिक परिश्रम करना पड़ा है और रुई का थान बनाकर लाने में कम। प्रति-दिन के व्यवहार में हम सौदे का मूल्य सिक्कों के हिसाब से जाँचते हैं। सिक्का या रुपया सौदे के दाम आँकने का साधन है और वह ख़ास-ख़ास परिस्थितियों में कुछ निश्चत समय तक किये गये श्रम को प्रकट करता है। यदि एक थान की क़ीमत ५) है और एक मेज़ की क़ीमत भी ५) है, तो इसका अर्थ है कि दोनों को तैयार करने में एकसे समय तक परिश्रम करना पड़ा है। जितनी भी चीज़े ५) दाम में बाज़ार में मिल सकेंगी वे सब उतने ही श्रम से तैयार हुई होंगी या हो सकती होंगी। जो कोई आदमी उतना परिश्रम करेगा जितने में ऐसी कोई चीज़ बन सके, उसे पाँच रुपये उस मेहनत के मिल जायँगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाम परिश्रम का ही होता है।

## परिश्रम की शक्ति और परिश्रम का रूप—

(Abstract labour and concrete labour)

परिश्रम कई प्रकार का होता है। जितने भी अलग तरह के सौदे हम बाज़ार में देखते हैं, वे सब अलग-अलग तरह के परिश्रम का परिणाम हैं। अनाज के लिये एक तरह का परिश्रम करना पड़ता है, बन्दूक बनाने के लिये दूसरे तरह का, किताब बनाने के लिये और ढंग का। यह सब सौदे अलग प्रकार के परिश्रम से बनते हैं और अलग-अलग तरह की आवश्यकता को पूरा करते हैं। परन्तु इन सब सौदों में एक वस्तु, मनुष्य की शक्ति ( या परिश्रम ) समान है। किसी भी प्रकार के सौदे को तैयार किया जाय मनुष्य की शक्ति उसमें ख़र्च होगी, मनुष्य को उसके लिये परिश्रम करना ही पड़ेगा। हम कह सकते हैं, सभी पदार्थों या सभी प्रकार के सौदों में मनुष्य का परिश्रम ख़र्च होता है परन्तु उस परिश्रम का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। परिश्रम का एक रूप सौदे के रूप में और इस सौदे से जो आवश्यकता पूर्ण होती है उसके रूप में प्रकट होता है।

परिश्रम का दूसरा रूप सौदे के दाम में प्रकट होता है। पाँच रुपये क़ीमत का जूता तैयार करने में जो ख़ास तरह का परिश्रम किया गया है, उसका प्रकट रूप जूता है और ख़र्च की गई शक्ति का परिणाम पाँच रुपया क़ीमत है। दूसरी तरह के परिश्रम का रूप होगा मेज़ परन्तु इस परिश्रम में ख़र्च की गई शक्ति का दाम भी कुछ रुपया होगा। इस प्रकार परिश्रम के जितने भी रूप होंगे उनमें परिश्रम की शक्ति का दाम भी सम्मिलित होगा। इस प्रकार सौदा तैयार करने के लिये जो परिश्रम किया जाता है, उसके कारण बाज़ार में सौदे का दाम पड़ जाता है। परिश्रम के रूप और परिश्रम की शक्ति का भेद केवल विनिमय के लिये सौदा तैयार करने में प्रकट होता है। उपयोग के लिये पदार्थ तैयार करने में जो परिश्रम लगता है, उसमें यह भेद प्रकट नहीं होता; क्योंकि

उपयोग के लिये उसका मूल्य होने पर भी उसका कोई दाम नहीं पड़ता ? वह केवल उपयोग में ही आता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं, अगर पदार्थों को केवल उपयोग के लिये ही तैयार किया जाय तो उनका दाम आँकने की आवश्यकता न होगी।

रुपया या सिक्का—

सौदे का विनिमय करने के लिये रुपये का उपयोग होता है। सौदा रुपये के हिसाब से ख़रीदा और बेचा जाता है। रुपया सौदे के मूल्य या उपयोगिता को दाम के रूप में प्रकट करता है। सौदे का विनिमय कर सकने से पहले उसका दाम रुपये के रूप में निश्चित होना ज़रूरी है।

यह हम देख चुके हैं कि सौदे को तैयार करने के लिये जितने समय तक परिश्रम किया जाता है उसी के हिसाब से उसका दाम होता है। परन्तु सौदे का दाम प्रकट करने के लिये यह कहना कि अमुक सौदा बारह घण्टे मेहनत का है या चौबीस घण्टे मेहनत का असुविधा जनक होगा। किसी एक सौदे का दाम दूसरे सौदे के रूप में प्रकट करना भी आसान नहीं। उदाहरणतः यह कहना कि गेहूँ की बोरी का दाम दो बकरी है, या जूते का दाम मेज़ के बराबर है, एक झंझट है। विनिमय को आसान बनाने के लिये एक ऐसी वस्तु का विकास हुआ जो अपने रूप में सभी सौदों का दाम, उन पर किये गये परिश्रम के हिसाब से प्रकट कर दे, यही वस्तु रुपया है।

दूसरी वस्तुओं का दाम प्रकट कर सकने के लिये यह आवश्यक है कि रुपये या सिक्के का अपना भी दाम हो। अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिये भी ख़ास समय तक परिश्रम करना पड़े। तभी वह दूसरे सौदे के बदले में लिया दिया जा सकेगा। यदि रुपये का अपना दाम न हो तो उससे दूसरे पदार्थों के दाम का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। जिस वस्तु का अपना कोई वज़न न हो उस वस्तु से दूसरी वस्तुओं को नहीं तौला जा सकता इसी तरह रुपये का अपना दाम होना भी आव-

श्यक है, तभी वह दूसरे सौदे के दाम को प्रकट कर सकेगा। सौदे का दाम रुपये के रूप में निश्चित करने के लिये रुपया जेब में होना आवश्यक नहीं। हम जेब में एक पैसा न होने पर भी लाखों करोड़ों रुपये के दाम के सौदे का हिसाब कर सकते हैं। इस प्रकार रुपया एक माध्यम या ज़रिया है जो सौदे के दाम को आँकने का साधन है। भिन्न भिन्न सौदे को एक दूसरे के मुक़ाबिले में रखकर उनके दाम का अनुमान करना कठिन होता है। इसलिये सुविधा के विचार से सभी सौदे का दाम रुपये के रूप में आँक लिया जाता है और सौदे रुपये के रूप में अदले बदले जा सकते हैं। किसी सौदे के बदले रुपया ले लेने पर इस बात का भरोसा रहता है कि उस रुपये से कोई भी सौदा आवश्यकता होने पर ले लिया जा सकता है। रुपये को हम सभी सौदे या पदार्थों का प्रतिनिधि समझ सकते हैं। क्योंकि रुपया होने पर (ख़ास परिस्थितियों को छोड़कर) कोई भी सौदा सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार धन संचय करने का रुपया बहुत ही अच्छा साधन है। अनेक सौदों के गोदाम न भर कर केवल रुपया इकट्ठा कर लेने से सभी सौदे को प्राप्त करने की शक्ति इकट्ठी की जा सकती है। हो सकता है सौदे या पदार्थ रूप में इकट्ठा किया हुआ धन कुछ समय बाद उपयोग के योग्य न रहे परन्तु रुपया सदा ही उपयोग के योग्य बना रह सकता है। रुपये के इस गुण के कारण व्यवसाय और व्यापार में बहुत सुगमता हो जाती है। यदि धन को सौदे के रूप में इकट्ठा करना पड़े तो बहुत कम धन इकट्ठा किया जा सकेगा परन्तु रुपये के रूप में धन बड़ी से बड़ी तादात में भी इकट्ठा किया जा सकता है और उसे दूसरे व्यवसाय में लगा कर और अधिक मुनाफ़ा कमाने का काम शुरू किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां रुपया समाज में विनिमय के मार्ग आसान कर पैदावार बढ़ाने का काम करता है, वहां रुपया मुनाफ़ा खींचना और मुनाफ़ा जमा करना आसान बनाकर

पूँजीवाद की रफ़्तार को ख़ूब तेज़ कर देता है। यदि कोई व्यवसायी या पूँजीपति अपने तैयार किये गये सौदे के रूप में धन संचय करता है तो उस सौदे द्वारा पैदावार के काम को आगे चलाना उतना आसान नहीं, क्योंकि पैदावार के काम को जारी करने के लिये कितने ही प्रकार के सौदों को उपयोग में लाने की ज़रूरत पड़ती है जिन्हें सौदे से बदल कर प्राप्त करना झंझट का काम है। रुपया जो बहुत आसानी से जमा किया जा सकता है सभी प्रकार के सौदों और परिश्रम करने की शक्ति को तुरन्त ख़रीद कर पैदावार के काम को किसी भी रूप में जारी कर दे सकता है।

पूँजीवादी प्रणाली में पैदावार के काम में उधार या क़र्ज का भी बहुत बड़ा स्थान है। सौदे या पदार्थ के रूप में कर्ज़ लेना और अदा करना बहुत कठिन और झंझट का काम होगा। रुपये के रूप में यह सब काम बहुत सुविधा से हो सकते हैं। रुपये के अभाव में पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली चल ही नहीं सकती। सौदे के रूप में यदि मुनाफ़ा पदार्थों के रूप में ही लिया जाय तो उसका उपयोग संचय केवल एक हद तक ही हो सकेगा, और उस हद से आगे मेहनत करने वालों का शोषण न किया जायगा परन्तु रुपये के रूप में मेहनत करने वालों की मेहनत का भाग ( मुनाफ़ा ) चाहे जितनी मात्रा में इकट्ठा कर लिया जा सकता है और उसे आगे और मुनाफ़ा कमाने के काम में लगा दिया जा सकता है।

रुपया सभी साधनों को ख़रीद सकता है, इसलिये वह स्वयम् पैदावार की बहुत बड़ी शक्ति है। जिसके पास रुपया है, वह पैदावार के साधनों का मालिक है। पूँजीवादी युग के आरम्भ में जिस प्रकार रुपये ने पैदावार का परिमाण और चाल बढ़ाने में सहायता दी, उसी प्रकार वह आज कुछ एक पूँजीपतियों के हाथ में ही पैदावार के सब साधनों को जमाकर, मुनाफ़ा खींचने की सुविधा पैदा कर शेष समाज को पैदा-

वार ख़रीद सकने के अयोग्य बना रहा है। रुपये ने जिस प्रकार पूँजी-वादी प्रणाली के विकास को सहायता दी, उसी प्रकार आज वह पूँजी-वाद की गति तेज़कर उसे अन्तिम सीमा पर पहुँचा उसके भीतर अड़-चनें पैदा कर रहा है।

## आवश्यक सामाजिक श्रम—Socially necessary labour.

सौदा या पदार्थ तैयार करने में ख़र्च हुए परिश्रम का हिसाब समय से लगाया जाता है। सौदा तैयार करने में जितना समय परिश्रम किया जायगा उतना ही उस सौदे का दाम होगा। इस हिसाब से सुस्त और अयोग्य मनुष्य द्वारा तैयार किये गये सौदे का दाम अधिक और योग्य व्यक्ति द्वारा तैयार किये गए सौदे का दाम कम होना चाहिए, परन्तु बात ऐसी नहीं।

कोई सौदा तैयार करने में कितना समय दरकार है, इसका हिसाब किसी एक व्यक्ति की योग्यता या काहिली से नहीं बल्कि समाज में काम करने वाले साधारण लोगों की योग्यता से किया जाता है। यदि कपड़े के एक थान की बुनाई समाज में कपड़ा बुननेवालों की औसत साधा-रण और योग्यता के अनुसार दस दिन होनी चाहिए और समाज में इतने परिश्रम का दाम पाँच रुपया पड़ता है तो एक थान की बुनाई का दाम पाँच ही रुपया होगा चाहे उसे अधिक योग्य जुलाहा आठ दिन में बुन डाले और कोई सुस्त जुलाहा उसे बुनने में चौदह दिन लगा दे।

जब समाज किसी कारोबार में मशीन का व्यवहार करने लगता है, तो उस कारोबार में सौदे की पैदावार के लिये कम समय लगने लगता है। उदाहरणतः कपड़ा बुनने के लिये करघे की जगह जब मशीन का व्यवहार होने लगता है और थान की बुनाई मशीन द्वारा दस दिन के बजाय अढ़ाई दिन में होने लगती है, या दस दिन में एक थान की जगह चार थान बुने जाते हैं तो समाज में एक थान की बुनाई की

कीमत ढाई दिन की मज़दूरी हो जायगी। बाज़ार में एक थान की बुनाई सवा रुपया ही मिलेगी चाहे हाथ से बुनाई करने वाला जुलाहा उसे दस ही दिन में क्यों न बुनकर लाये। मशीन के आविष्कार और व्यवहार से समाज की पैदावार की शक्ति बढ़ जाती है और पैदावार पर औसत आवश्यक श्रम कम लगने लगता है। ऐसी अवस्था में जिन लोगों के हाथ में सौदे को मशीन द्वारा तैयार करने का साधन है, उनके मुक़ाबिले में हाथ से काम करने वाले कारीगर टिक नहीं सकते क्योंकि सामाजिक लाभ की दृष्टि से मशीन के मुक़ाबिले में हाथ से मेहनत करना समय के रूप में परिश्रम का व्यर्थ व्यय करना होगा।

## साधारणश्रम और शिल्पश्रम—Ordinary & skilled labour.

परिश्रम का दाम उस पर ख़र्च हुए समय से लगाने के सम्बन्ध में एक और आपत्ति की जा सकती है कि भिन्न भिन्न प्रकार के परिश्रम का दाम एक समय के लिये अलग अलग होगा। उदाहरणतः ज़मीन खोदने की मज़दूरी के एक घण्टे के परिश्रम का दाम उतना नहीं हो सकता जितना कि एक इंजीनियर के परिश्रम का होगा। इसका कारण स्पष्ट है—ज़मीन खोदने का काम कोई भी व्यक्ति एक या दो दिन में अच्छी तरह सीख सकता है परन्तु इंजीनियर का काम सीखने के लिए आठ या दस बरस का समय चाहिये। आठ या दस बरस तक की गई मेहनत का दाम इंजीनियर अपनी मेहनत के प्रत्येक घण्टे और दिन में वसूल करता है। इसीलिये उसके परिश्रम के एक घण्टे का दाम मामूली मज़दूर के एक घण्टे के परिश्रम के दाम से बहुत अधिक होता है।

## माँग और पैदावार—

बाज़ार में सौदे का दाम उस पर लगे आवश्यक सामाजिक परिश्रम से निश्चय होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आवश्यक सामाजिक

श्रम से तैयार किया गया सब सौदा बाज़ार में बिक जायगा। सौदे के बिक सकने से पहले उसका ख़रीददार चाहिए। कोई भी सौदा एक सीमा तक ही बाज़ार में खप सकता है। उस सौदे की पैदावार यदि बाज़ार में उसकी मांग से अधिक हो जाती है, तो उसकी बिक्री में कठिनाई पड़ेगी। और यदि कोई सौदा माँग से कम तैयार होता है तो उसकी चाह बढ़ेगी। पूँजीपति मालिकों के व्यक्तिगत अधिकार में रहता है। इस बात का कोई अन्दाज़ा नहीं होता कि समाज में अमुक अमुक सौदे की कितनी आवश्यकता है। उन्हें मतलब रहता है, अपना लाभ कमाने से। वे जितना अधिक सौदा बेच सकेंगे उतने ही अधिक मुनाफ़े की आशा उन्हें होगी। कई पदार्थ माँग से अधिक पैदा हो जाते हैं ऐसी अवस्था में प्रत्येक पूँजीपति अपने सौदे को दूसरों से पहले बेचने का यत्न करता है। उसके लिये आवश्यक होता है कि उसका सौदा दूसरों से सस्ता हो। सौदे का दाम निश्चित होता है उस पर ख़र्च किये गये आवश्यक सामाजिक परिश्रम से। सस्ता तैयार सौदा करने का उपाय है उस पर ख़र्च किये गये परिश्रम का दाम कम देना। अर्थात् पूँजीपति अपना मुनाफ़ा तो अवश्य कमायेगा परन्तु मज़दूर की मज़दूरी कम देने का यत्न करेगा। मज़दूरों की संख्या भी बाज़ार में उनकी माँग की अपेक्षा, अधिक है इसलिये मज़दूरों को भी एक दूसरे के मुक़ाबिले में परिश्रम करने की अपनी शक्ति बेचने के लिये उसका दाम कम करना पड़ता है। मेहनत करने वालों में मशीनों द्वारा जितनी ही अधिक बेकारी फैलेगी अपने परिश्रम को बेचकर अपना पेट भरने के लिये उन्हें अपने परिश्रम का मूल्य उतना ही अधिक घटाना पड़ेगा। इतने पर भी केवल उतने ही लोग मज़दूरी पा सकेंगे जितनों की आवश्यकता होगी—शेष मज़दूर बेकार ही रहेंगे। बेकार रहने से वे अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक सौदे को ख़रीद न सकेंगे जो कि समाज में उनके लिये लगातार पैदा किया जा रहा है।

समाज में मेहनत की शक्ति का मूल्य घटता जाता है और मशीनों की सहायता से पैदावार की शक्ति बढ़ती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि सौदे को पैदा करने के लिये पहले से कम आवश्यक सामाजिक श्रम की दरकार होती है और सौदे की पैदावार बढ़ती जाती है। परिणाम होता है कि परिश्रम का दाम पूँजीपति को कम देना पड़ता है और पूँजीपति के मुनाफ़े का भाग ख़ूब बढ़ जाता है।

समाज में एक श्रेणी पैदावार के साधनों की मालिक और दूसरी पैदावार के लिये मेहनत करने वाली है। पैदावार के लिये आवश्यक सामाजिक श्रम की आवश्यकता कम होते जाने और पैदावार बढ़ते जाने का परिणाम यह होता है कि पूँजीपति का मुनाफ़ा तो बढ़ता जाता है परन्तु मेहनत करने वाली श्रेणी का भाग पैदावार में घटता जाता है। मेहनत करने वाली श्रेणी के लोग न तो व्यक्तिगत रूप से ही जितना पैदा करते हैं उतना ख़र्च पाते हैं और न श्रेणी के रूप में।

परिणाम स्वरूप पूँजीवाद में अर्थ संकट आते हैं अर्थात् समाज में सौदे की पैदावार तो बहुत अधिक हो जाती है परन्तु ख़पत नहीं हो पाती। जो पैदावार बिक नहीं पाती उसमें लगी पूँजीपति की पूँजी एक तरह से व्यर्थ नष्ट होती है। पूँजीपति पैदावार कम करने की कोशिश करने लगते है। पैदावार कम करने की कोशिश का परिणाम यह होता है कि मज़दूरों की एक और बड़ी संख्या बेकार हो जाती है और इनके बेकार हो जाने से पैदावार को ख़रीदने की ताक़त मज़दूर श्रेणी में, जो कि समाज का ६५% अंग है, और भी घट जाती है। पैदावार को और कम किया जाता है। इस प्रकार पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली जिसका काम होना चाहिये था समाज में पैदावार को बढ़ाना, पैदावार को घटाने लगती है, जनता को जीवन की आवश्यकता पूर्ण करने के साधन देने की अपेक्षा उन्हें वह जनता से छीनने लगती है।

इसका उपाय मार्क्सवाद की दृष्टि में यह है कि समाज की आवश्य-

कताओं को पूर्ण करने के लिये जितने आवश्यक सामाजिक श्रम की ज़रूरत है, उसे सम्पूर्ण समाज सहयोग से करे, कोई भी व्यक्ति बेकार न रहे। पैदावार के साधन उन्नत हों प्रत्येक व्यक्ति को कम परिश्रम करना पड़े और साथ ही पैदावार को बढ़ाया जाय और सब लोग अपने परिश्रम के हिसाब से फल पा सकें। इससे प्रत्येक मेहनत करने वाले को परिश्रम तो पहले से कम करना पड़ेगा—परन्तु सौदा ख़रीदने का साधन पहले से अधिक प्रत्येक के पास हो सकेगा।

पूँजीवाद में शोषण का रहस्य—

मार्क्सवाद का विश्वास है कि पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और ज़मींदार लोग साधनहीन किसान-मज़दूर और नौकरी पेशा श्रेणी का निरन्तर शोषण करते रहते हैं। परन्तु यह शोषण किस प्रकार होता है: इस शोषण का रहस्य क्या है; यह हमें मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से देखने का यत्न करना है।

अब तक हम पैदावार के दो रूप देख चुके हैं—प्रथम उपयोगी पदार्थों की पैदावार, पदार्थों को आवश्यकता पूर्ण करने के लिये पैदा करना; दूसरा—सौदे की पैदावार, पदार्थों को विनिमय के लिये सौदे के रूप में पैदा करना। हम यह भी समझ चुके हैं कि आवश्यकता पूर्ण करने के लिये पैदावार करने में मुनाफ़ा कमाने का उद्देश्य नहीं रहता। विनिमय के लिये पैदावार करने में पैदावार का उद्देश्य उपयोग नहीं बल्कि मुनाफ़ा कमाना हो जाता है और आज दिन पूँजीवादी समाज में पैदावार विनिमय के लिये अर्थात् मुनाफ़ा कमाने के लिये ही होती है। पूँजीवाद क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लेनिन कहता है:—"समाज में सभी पदार्थों को सौदे के रूप में विनिमय के लिये उत्पन्न करना और परिश्रम की शक्ति को भी विनिमय की वस्तु की तरह ख़रीद कर व्यवहार में लाना पूँजीवाद की अवस्था है" मार्क्स ने भी पूँजीवादी प्रणाली की व्याख्या करते हुए लिखा है—पूँजीवादी

प्रणाली में सभी पदार्थ विनिमय के लिये तैयार किये जाते हैं। पूँजीवादी समाज में नई बात यह होती है कि मनुष्य की परिश्रम की शक्ति भी बाज़ार में बेची और खरीदी जाती है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली की विशेषता है, मेहनत करने वाले से अतिरिक्त श्रम या 'अतिरिक्त मूल्य' के रुप में मुनाफ़ा उठाना—पूँजी द्वारा पूँजी कमाना है। पूँजीवाद अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य के रुप में ही और पूँजी कमा सकता है।

मार्क्सवाद का कहना है कि पूँजीवादी समाज में मनुष्य की परिश्रम की शक्ति का भी विनिमय या बिक्री होती है। मनुष्य की परिश्रम की शक्ति क्या है ? इस विषय में मार्क्स लिखता है:—"परिश्रम की शक्ति या परिश्रम कर सकने की योग्यता का अर्थ है, मनुष्य के वे सब शारीरिक और मानसिक गुण जिनका व्यवहार उपयोगी पदार्थ तैयार करने में होता है *।" इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है, परिश्रम की शक्ति उपयोगी पदार्थों को उत्पन्न कर सकने की शक्ति है।

केवल अपने ही श्रम का जो फल मनुष्य को मिलता है उसे मुनाफ़ा नहीं कहा जा सकता और न इस कमाई से मनुष्य के पास बड़ी मात्रा में पूँजी जमा हो सकती है। बड़े परिमाण में मुनाफ़ा कमाने के लिये यह ज़रूरी है कि दूसरों के परिश्रम का भाग मुनाफ़े के रूप में ले लिया जाय। यह तभी हो सकता है जब समाज में एक श्रेणी ऐसी हो जिसके पास पैदावार के साधन न हों। अपने हाथ में पैदावार के साधन रहते कोई भी मनुष्य यह पसन्द न करेगा कि दूसरा व्यक्ति उसके श्रम फल ले लेने का मौका पाये।

आज दिन जुलाहे घर पर काम करने के बजाय कपड़े की मिल में काम करना पसन्द करते हैं। घर पर काम करने से यदि वे दिन में ३-४ आने मज़दूरी कमा सकते हैं तो मिल से उन्हें १०-१२ आने मज़दूरी

---

* मार्क्स की पुस्तक Capital प्रथम भाग पृष्ठ १४५।

मिल जाती है। यह मज़दूरी मिल मालिक अपनी जेब से नहीं देता। मशीन की सहायता से वह कहीं अधिक दाम का काम जुलाहे से करा कर उसे इतनी मज़दूरी देता है। अपने घर पर मशीन न होने से जुलाहा शारीरिक परिश्रम अधिक करके भी कम दाम का काम कर सकता है। इस भेद का कारण है, मिल मालिक या पूँजीपति के हाथ में पैदावार के विकसित साधनों का होना जिनसे होने वाली पैदावार की अपेक्षा जुलाहे की शारीरिक शक्ति से पैदावार बहुत कम हो पाती है और वह उससे अपना निर्वाह नहीं कर सकता। हाथ में पूँजी होने के कारण पूँजीपति पैदावार के साधन समेट लेता है।

हम देखते हैं पूँजी से पूँजी पैदा होती है। परन्तु अधिक पूँजी को पैदा करने के लिये आरम्भ में पूँजी कहाँ से आई होगी? पूँजीवाद के युग, अर्थात् बड़े परिमाण में मुनाफ़े के लिये पैदावार आरम्भ होने, से पहले भी मामूली परिमाण में व्यापार चलता था। यह व्यापार उपयोग की वस्तुओं को सस्ते दाम पर ख़रीद कर अधिक दाम में बेचकर मुनाफ़ा कमाने का था। इसी व्यापार से पूँजीवाद को जन्म देने वाली आरंभिक पूँजी एकत्र हुई। सस्ता ख़रीद कर महँगा बेचने का अर्थ होता है या तो सौदे का मुनासिब से कम दाम दिया जाय, या सौदे का मुनासिब से ज़्यादा दाम लिया जाय। इस प्रकार के व्यापार में मुनाफ़े की अधिक गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि व्यवसाई जो कुछ ख़रीदता है, उसीको बेच देता है। उसके लिये मुनाफ़े का अधिक अवसर तो यदि वह बाज़ार में ऐसी वस्तु बेचे जिसे उसने स्वयम् बनाया या बनवाया है। बेचा सकने या बनवा सकने का साधन परिश्रम करने की शक्ति है।

परिश्रम की शक्ति का दाम और परिश्रम का दाम—

बाज़ार में बिकने के लिये आने वाली प्रत्येक वस्तु का दाम होता है और यह दाम उस वस्तु की तैयारी में ख़र्च हुए परिश्रम के परिमाण (समय) से निश्चित होता है। इस प्रकार बाज़ार में बिकने आने

वाली मज़दूर की मज़दूरी ( उसकी परिश्रम करने की शक्ति ) का दाम भी इसी नियम से तय होता है। मज़दूरी करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये मज़दूर या नौकर को कुछ सौदा पेट भरने और शरीर ढाँकने के लिये चाहिये जिस के बिना परिश्रम करना सम्भव नहीं। परिश्रम करने की शक्ति क़ायम रखने के लिये मज़दूर अपने परिवार, पत्नी, सन्तान आदि के लिये मज़दूर जितने समय की अपनी मेहनत की पैदावार का जितना भाग सौदे के रूप में खर्चेगा, उतनी ही कीमत उसकी परिश्रम की शक्ति की होगी। मेहनत की शक्ति की कीमत कोई निश्चित वस्तु नहीं है। मज़दूर मेहनत की शक्ति को क़ायम रखने के लिये या दूसरे शब्दों में कहिये—जीवन रक्षा के लिये कम या अधिक सौदा ख़र्च कर सकता है। यदि उसे अपनी इच्छा के अनुसार सौदा ख़र्च करने का अवसर हो, वह काफ़ी ख़र्च करेगा। परन्तु मज़दूर को अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार ख़र्च करने का अवसर नहीं मिलता। मज़दूर की मेहनत की शक्ति को ख़रीदने वाले उसे कम से कम दाम देने की कोशिश करते हैं—अर्थात् वे मज़दूर द्वारा पैदा कराये गये माल का कम से कम भाग मज़दूरी के रूप में निर्वाह के लिये देने का यत्न करते हैं। उसे केवल उतना दिया जाता है जितने में उसके प्राण मात्र बच सकें—और उसे अधिक से अधिक पैदावार अपनी मेहनत से करने के लिये मजबूर किया जाता है। मज़दूर को दिये गये दाम और मज़दूर द्वारा पैदा किये गये सौदे के दाम में जो अन्तर रहता है, वही पूँजिपति का मुनाफ़ा बन जाता है।

पूँजीपति का मुनाफ़ा क्या है ; इस बात को मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से समझ लेने के लिये परिश्रम की शक्ति के मूल्य में और परिश्रम के मूल्य में अन्तर समझ लेना ज़रूरी है। परिश्रम की शक्ति और परिश्रम के परिणाम में भेद है, यह पहले दिखा आये हैं ; यहाँ हम दोनों के दाम में भेद दिखाने का यत्न करेंगे।

परिश्रम की शक्ति का दाम हमने ऊपर दिये उदाहरण से दिखाने का यत्न किया है। संक्षेप में कहा जायगा कि मज़दूर की जीवन रक्षा के लिये कम से कम ज़रूरी सौदे का दाम ही परिश्रम की शक्ति का दाम है *। जितने समय तक के लिये पूँजीपति मज़दूर की परिश्रम की शक्ति अपने काम में लगाना चाहता है उतने समय तक उसके जीवित रहने के लिये सौदे का मूल्य वह उसे देने के लिये मजबूर है—वर्ना मज़दूर ज़िन्दा रहकर परिश्रम नहीं कर सकता।

अब देखना यह है कि परिश्रम का दाम क्या होता है ? मज़दूर दिन भर परिश्रम कर कितने दाम का सौदा तैयार करता है, यह मज़दूर नहीं जानता ; यह भेद पूँजीपति ही जानता है।

बाज़ार में परिश्रम की शक्ति का दाम परिश्रम के फल से बहुत कम होता है ; यह टाँगे में जोते जाने वाले घोड़े के उदाहरण से समझा जा सकता है। एक घोड़े को दिन भर परिश्रम करने योग्य बनाये रखने के लिये जो ख़र्च किया जाता है, वह उसकी परिश्रम की शक्ति का दाम है और घोड़े के दिन भर के परिश्रम से जो कमाई होती है, वह उसके परिश्रम का दाम है। इन दोनों दामों में जो अन्तर है, वह किसी से छिपा नहीं। घोड़े को ख़ूब तन्दुरुस्त रखने के लिये, उसकी परिश्रम की शक्ति को ठीक बनाये रखने के लिए जो ख़र्च होगा, वह उसके परिश्रम के दाम से कहीं कम होगा। इसी प्रकार मनुष्य की परिश्रम की शक्ति बनाये रखने के लिये जो दाम ख़र्च आता है, वह मनुष्य द्वारा किये गये परि-

---

* मज़दूर की जीवन रक्षा के लिये कम से कम कितना सौदा आवश्यक है, यह मज़दूर की परिस्थितियों, बाज़ार में मज़दूरों की संख्या और उनके अभ्यास आदि पर निर्भर करता है। बिहार का एक कुली दिनभर दो-तीन आने के सौदे में निर्वाह कर लेता है। एक पंजाबी कुली आठ आने के लगभग ख़र्च करता है और एक अमेरिकन कुली चार पाँच रुपये ज़रूरी समझता है।

श्रम के दाम से बहुत कम होता है। यदि मज़दूर को उसके 'परिश्रम की शक्ति' का यथेष्ट दाम भी मिल जाय तो भी वह मज़दूर द्वारा किये 'परिश्रम के दाम' से बहुत कम होगा। लेकिन बाज़ार में बेकार मज़दूरों की बहुत बड़ी तादाद होने से मज़दूरों को नित्य अपनी आवश्यकतायें कम करके भी, आधा पेट खाकर अर्थात् अपने परिश्रम की शक्ति का दाम मुनासिब से बहुत कम लेकर भी मज़दूरी करने के लिये राज़ी होना पड़ता है। मज़दूरों को जितना ही कम भाग पैदावार में से मिलता है मालिक का मुनाफ़ा उतना ही अधिक पड़ता जाता है।

अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त दाम—Surplus labour and Surplus value.

सौदे के दाम का आधार क्या है, परिश्रम की शक्ति का दाम, और परिश्रम का दाम इन सब विषयों को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समझ लेने के बाद मुनाफ़ा क्या है ; इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है। मज़दूर की मेहनत के फल का वह भाग जिसका दाम मज़दूर को नहीं मिलता मालिक का मुनाफ़ा है। मज़दूर जितने समय तक मेहनत कर परिश्रम की शक्ति का दाम पैदा करता है उससे जितना भी अधिक वह काम करेगा वह सब मालिक का मुनाफ़ा होगा। यदि मज़दूर पाँच घण्टे का काम करके अपने परिश्रम की शक्ति का दाम पूरा कर देता है तो दिन भर की मेहनत के शेष घण्टे मालिक के मुनाफ़े में जाते हैं। मज़दूर द्वारा की गई पूरी मेहनत के परिणाम में से मज़दूर की परिश्रम की शक्ति का जितना दाम उसे मिलता है, उसे निकाल देने के बाद जो कुछ बच जाता है वह 'अतिरिक्त श्रम' है। अपनी परिश्रम की शक्ति को क़ायम रखने के लिये मज़दूर को जितना परिश्रम करना ज़रूरी है, उससे जितना अधिक मज़दूर को करना पड़ता है वह मज़दूर की दृष्टि से ग़ैर ज़रूरी, फालतू या अतिरिक्त श्रम है और उसका दाम भी अतिरिक्त दाम है। यह 'अतिरिक्त श्रम' और 'अतिरिक्त मूल्य' ही मालिक का मुनाफ़ा है।

'अतिरिक्त मूल्य' का सिद्धान्त ही मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों की आधार शिला है। इस सिद्धान्त द्वारा ही साधनहीन, किसान, मज़दूर और नौकरी पेशा लोगों की श्रेणी अपने निरन्तर शोषण के रहस्य को समझकर उससे मुक्ति प्राप्त करने का आन्दोलन चला सकती है। अपनी मेहनत के इस अतिरिक्त श्रम और दाम को स्वयम् खर्च करने का अधिकार पाकर ही साधनहीन श्रेणी समाजवाद द्वारा मनुष्य-समाज को सुख शान्ति की अवस्था में पहुँचा सकती है। इस अवस्था में समाज की व्यवस्था का नियम होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति भर परिश्रम करे और अपनी आवश्यकता अनुसार पदार्थों को प्राप्त कर सके। समाज में शोषण का अन्त हो जाय, किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध जीवन निर्वाह के लिये विवश न होना पड़े और उसके लिये नियंत्रण की ज़रूरत न पड़े।

मार्क्सवाद को क्रियात्मक रूप देने वाली रूस की समाजवादी क्रान्ति का नेता लेनिन अतिरिक्त दाम * के विषय में लिखता है :—

"सौदे के विनिमय से ही अतिरिक्त दाम ( मुनाफ़ा या पूँजी ) प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि सौदे के विनिमय का अर्थ है, समान लागत के सौदों को एक दूसरे से बदलना। सौदे का दाम बढ़ने या घटने से भी अतिरिक्त दाम ( मुनाफ़ा ) पैदा नहीं हो सकता क्योंकि उसका अर्थ केवल समाज के कुछ आदमियों के हाथ से दाम का निकल कर दूसरों के हाथ में चले जाना होगा। समाज में जो आज बेचने वाला है वह कल खरीदने वाला बेचने वाला बन जाता है। अतिरिक्त दाम प्राप्त करने के लिये पूँजीपति को बाज़ार में ऐसे सौदे की खोज करनी पड़ती है जिसे व्यवहार में लाकर उस पर खर्च किये गये दाम से अधिक दाम प्राप्त किया जा सके—एक ऐसा सौदा जिसे खर्च करने से और अधिक दाम पैदा हो सके। बाज़ार में ऐसा सौदा मनुष्य की परिश्रम करने की

* अतिरिक्त दाम का शब्दार्थ होगा—लागत दाम से अधिक दाम।

शक्ति है। मनुष्य की परिश्रम की शक्ति का उपयोग परिश्रम ही है। और परिश्रम का फल है दाम! पूँजीपति मज़दूर की मेहनत की शक्ति को बाज़ार दाम पर खरीद लेता है। दूसरे सब सौदों की ही तरह मनुष्य की परिश्रम करने की शक्ति का दाम भी इसे पैदा करने के लिये 'आवश्यक-सामाजिक-श्रम' से निश्चित होता है *। मनुष्य की मेहनत करने की शक्ति को दस घण्टे के लिये ख़रीद कर पूँजीपति उसे काम पर लगा देता है। पाँच घण्टे परिश्रम करके ही मज़दूर उतने दाम का सौदा पैदा कर देता है जितना कि उसे दस घण्टे काम करने के बाद मिलता है। शेष पाँच घण्टे और काम कर मज़दूर अतिरिक्त दाम पैदा करता है जो पूँजीपति की जेब में जाता है।"

मार्क्सवाद की दृष्टि से अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम ले सकना ही शोषण की शक्ति और अधिकार है। समाज में जब कभी और जहाँ कहीं शोषण होगा इसी शक्ति और अधिकार के बल पर होगा।

मनुष्य की आदिम अवस्था में जब कि मनुष्य के पैदावार के साधन इतने कमज़ोर थे कि दिनभर के कठिन परिश्रम के बाद वह मुश्किल से अपने जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त पदार्थ प्राप्त कर सकता था, उस समय मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाइश ही नहीं थी। ज्यों-ज्यों पैदावार के साधनों में उन्नति होने लगी, मनुष्य पैदावार आसानी से करने लगा और जितना उसके जीवन निर्वाह के लिये नितान्त आवश्यक था, उससे अधिक पैदा करने लगा। यह पैदावार जमा होने लगी। इस जमा हुई पैदावार ने पूँजी का रूप लिया, जो पैदावार का सब से बड़ा साधन है। पूँजी के मालिक साधन-सम्पन्न और बलवान श्रेणी बनगये। ऐसा होने पर कुछ आदमियों के परिश्रम का अतिरिक्त भाग दूसरों के पास जाने लगा।

---

* मज़दूर और उसके परिवार के लिये अत्यन्त आवश्यक सौदे के लिये जितने समय तक परिश्रम करना अवाश्यक है।

कला कौशल और उद्योग धन्दों का विकास समाज में होने से पहले जब दास प्रथा ( गुलामी का रिवाज ) थी, दासों का शोषण अतिरिक्त श्रम के रूप में ही होता था। गुलाम को केवल उतना भोजन और वस्त्र दिया जाता था, जितना कि उसके शरीर में परिश्रम करने की शक्ति क़ायम रखने के लिये ज़रूरी था और गुलाम द्वारा बनाये गये परिश्रम के सम्पूर्ण फल को मालिक लोग भोगते थे। यही बात सामन्त-शाही और जागीरदारी के ज़माने में भी थी। सामन्तों और जागीर-दारों की प्रजा कठिन परिश्रम से जो पैदावार और उपज भूमि या भूमि की पैदावार से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे कामों से करती थी, उसमें से इन लोगों के शरीर में परिश्रम की शक्ति बनाये रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक भाग को छोड़कर शेष भाग ( अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम ) कर, लगान और नज़राना आदि के रूप में मालिक के पास चला जाता था। पूँजीवाद के युग से पूर्व मेहनत करने वाली श्रेणी का शोषण होता था मालिकों के उपभोग और भोग के लिये। इस प्रकार धन का उपयोग उसे व्यवहार में लाना ही था। इसलिये शोषण भी उतना ही किया जाता था जितने धन से मालिकों की आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं। मालिक लोग शोषण द्वारा प्राप्त धन को अपने व्यवहार में ख़र्च कर देते थे जिससे वह धन दूसरी श्रेणियों के हाथ पहुँचकर फिर बाज़ार में पहुँच जाता था और दूसरों के उपयोग में आता रहता था परन्तु पूँजीवाद के युग में धन को पूँजी का रूप देकर उसका उपयोग ख़र्च के लिये नहीं किया जाता बल्कि और अधिक धन पैदा करने के उपयोग के लिये किया जाता है। इसी [illegible] के कारण व्यापार पूँजीपतियों के लिये मुनाफ़े का क्षेत्र [illegible] जाता है। जितना मुनाफ़ा पूँजीपति कमाते हैं उसका [illegible] हिस्सा पूँजीपतियों के ख़र्च में आता है शेष पूँजी बनकर और मुनाफ़ा कमाने का साधन बनता जाता है। जितना अधिक मुनाफ़ा होता है, उतनी और अधिक

मुनाफ़ा कमाने के साधन तैयार होते हैं। इस प्रकार पूँजीपति मालिकों के लिये मुनाफ़े से संतुष्ट होने की सीमा नहीं रहती और मेहनत करने वालों के शोषण की भी कोई सीमा नहीं रहती।

पूँजी—

पूँजीवादी समाज में पैदावार का काम पूँजी के आधार पर होता है। पूँजीपति के अधिकार में पैदावार के जितने साधन हैं वे सब उसकी पूँजी हैं। पूँजीवाद का समर्थन करनेवाले कहते हैं, यदि पूँजीवादी प्रणाली को समाज से दूर कर दिया जायगा और पूँजी नहीं रहेगी या मुनाफ़ा कमाने की प्रणाली नहीं रहेगी तो समाज में पैदावार बढ़ाने के साधनों को किस प्रकार बढ़ाया जायगा? मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से इस प्रश्न का उत्तर हमें तभी मिल सकता है जब हम यह समझलें कि पूँजी क्या है? मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से पूँजी वह धन या पैदावार के वे साधन हैं जिनसे मुनाफ़ा कमाया जाता है। पैदावार के वे साधन पूँजी नहीं हैं, जिनसे उपयोग के पदार्थ तैयार किये जाते हैं। जो भेद उपयोगी पदार्थ और सौदे में है, वही भेद पैदावार के साधनों और पूँजी में है। गेहूँ की बोरी यदि परिवार के व्यवहार के लिये है तो वह उपयोग का पदार्थ है और यदि वह बिक्री के लिये है तो वह सौदा है। कोई भी वस्तु सौदा है या पदार्थ, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह वस्तु किस प्रयोजन से उपयोग में आयेगी? इसी प्रकार पैदावार के साधनों के बारे में भी उनका प्रयोजन यह निश्चय करता है कि वह ज़रूरत पूरी करने का साधन है या मुनाफ़ा कमाने का साधन। किसी मशीन से यदि उपयोग के पदार्थ तैयार किये जाते हैं तो वह पैदावार का साधन तो अवश्य है परन्तु मुनाफ़ा कमाने का साधन नहीं है, * इसलिये मार्क्सवादी उसे पूँजी नहीं कह सकेगा। परन्तु यदि उस मशीन पर दूसरे लोगों से मेहनत कराकर मुनाफ़ा कमाया जायगा तो वह मुनाफ़ा कमाने का

* जैसे परिवार के उपयोग की सिलाई की मशीन।

साधन बन जाने से पूँजी बन जायगी। एक और उदाहरण, शहर में पानी पहुँचाने की कल (Water-works) पर जो ख़र्च आता है यदि केवल उतना ख़र्च ही कल का पानी व्यवहार करने वालों से ले लिया जाय, उससे किसी क़िस्म का मुनाफ़ा न लिया जाय तो पानी की इस कल को पूँजी न कहा जायगा। इसी प्रकार नदी पर जनता के व्यवहार के लिये बनाये गये पुल में लगे दस लाख रुपये को पूँजी न कहा जायगा। वह पुल यदि किसी ठेकेदार ने बनाया है और पुल का व्यवहार करने वालों से वह पैसा वसूल करता है तो वह पुल पूँजी हो जायगा।

समाजवादी समाज में भी बड़ी बड़ी मिलें रहेंगी और बड़ी मात्रा में धन पैदावार के और नये साधन जारी करने के लिये इकट्ठा किया जायगा परन्तु उसका उद्देश्य व्यक्तियों या श्रेणी के लिये मुनाफ़ा कमाना न होकर जनता के उपयोग के लिये ही उपयोगी पदार्थ और साधन पैदा करना होगा। इसलिये उसे पूँजीवादी प्रणाली में मुनाफ़ा कमाने के साधन पूँजी के रूप में पूँजी न कहा जा सकेगा : वह होगा केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन—धन।

अतिरिक्त-श्रम का दर—

अतिरिक्त श्रम पर विचार करते समय हम इस परिणाम पर पहुँचे थे कि पूँजीपति के मुनाफ़े का स्रोत अतिरिक्त श्रम ही है। यदि हम यह देखना चाहें कि अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम (मालिक का मुनाफ़ा) किस हिसाब से घटता बढ़ता है तो एक बार फिर पैदावार के साधनों के रूप में लगने वाली पूँजी पर विचार करना होगा।

पूँजी या पैदावार के साधनों को हम इस प्रकार बाँट सकते हैं— एक वे साधन जो एक हद तक स्थायी हैं, उदाहरणतः इमारतें और मशीनें, दूसरे कच्चा माल, तीसरे मज़दूर की मज़दूरी देने के लिये पूँजी। पूँजी का जो भाग पैदावार के स्थायी साधनों पर ख़र्च होता है वह एक

निश्चित समय ( पाँच या दस बरस ) में वसूल हो सकता है। इन साधनों के दाम पर सूद और घिसाई पूँजीपति आमदनी में से लगातार निकालता जाता है। कच्चे माल पर जो पूँजी ख़र्च आती है वह भी तैयार किये गये सौदे के बिकते ही वसूल हो जाती है। पैदावार के इन साधनों पर जो रुपया लगाता है, पूँजीपति उसे सौदे के मूल्य से वसूल कर लेता है परन्तु उस पर मुनाफ़ा वसूल नहीं किया जा सकता, वह घटता बढ़ता नहीं। परिश्रम की शक्ति इन साधनों पर लगाये बिना कुछ लाभ नहीं होसकता। पैदावार में लगाये गये पूँजीपति के धन का तीसरा भाग परिश्रम की शक्ति के ख़रीदने में लगता है। पूँजीपति का मुनाफा उसकी पूँजी के इसी भाग से आता है।

परिश्रम करने की शक्ति जिस दाम पर ख़रीदी जाती है, परिश्रम के फल का दाम उससे अधिक होता है। सौदे के दाम में से परिश्रम की शक्ति का दाम निकाल देने पर 'अतिरिक्त-दाम' बच जाता है। अतिरिक्त दाम बढ़ाने का सीधा तरीका यह है कि परिश्रम की शक्ति के दाम ( मज़दूरी ) को घटाया जाय। उदाहरणतः यदि मज़दूर द्वारा कराये गये दस घण्टे परिश्रम का दाम एक रुपया है और उसमें से मज़दूर को उसकी परिश्रम की शक्ति का मूल्य आठ आने दे दिया जाता है तो अतिरिक्त मूल्य आठ आने प्रति मज़दूर बच जाता है। परिश्रम के मूल्य—एक रुपये—में से यदि मजदूरी की दर घटा दी जाय तो अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ जायगी। दूसरा उपाय मशीनों का प्रयोग बढ़ाकर पैदावार बढ़ादेना है जिसमें परिश्रम की शक्ति की माँग कम होने से उसके लिये कम दाम देना पड़े और मालिक के पास अतिरिक्त दाम या मुनाफ़ा अधिक बच जाय। तीसरा उपाय अतिरिक्त श्रम को बढ़ाने का यह है कि परिश्रम की शक्ति का मूल्य तो न बढ़े परन्तु परिश्रम अधिक दाम का ( अधिक समय तक ) कराया जाय ताके अतिरिक्त मूल्य का भाग बढ़ जाय। इसके लिये मजदूरों से बजाय

दस घण्टे के बारह घण्टे काम कराया जाय। दस घण्टे काम कराने से पाँच घण्टे में तो मज़दूर अपने परिश्रम की शक्ति का दाम पैदा करता है जो कि उसे मालिक से मिलना है और पाँच घण्टे में मालिक के लिये अतिरिक्त दाम। अब काम बारह घण्टे कराये जाने पर और परिश्रम की शक्ति का दाम ( मज़दूरी ) न बढ़ाने पर अतिरिक्त दाम बजाय पाँच घण्टे के सात घण्टे होने लगेगा। इसीलिये जब मशीनों द्वारा थोड़े समय में अधिक काम हो सकता है तब भी मालिक लोग काम के घण्टे घटाने के लिये तैयार नहीं होते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनाफ़ा कमाने की पूँजीवादी प्रणाली में मशीनों का प्रयोग बढ़ने, पैदावार बढ़ने आदि सभी प्रकार की उन्नति से मज़दूरों को नुकसान और पूँजीपतियों को लाभ होता है क्योंकि इन सब वस्तुओं का व्यवहार समाज की आवश्यकताओं को पूरा न कर मुनाफ़ा ( मज़दूर का शोषण ) कमाने के उद्देश्य से किया जाता है।

मज़दूरी या वेतन—

पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनत की शक्ति मज़दूरों से ली जाती है। मज़दूरों की मेहनत की शक्ति को मज़दूरी या वेतन द्वारा ख़रीद कर पैदावार के साधनों को चलाया जाता है। मज़दूरी पूँजीवादी समाज का विशेष महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि मज़दूरी द्वारा ही मेहनत की शक्ति और पैदावार के साधनों का मेल होता है और मज़दूरी द्वारा ही पूँजीपति मज़दूर की मेहनत से मुनाफ़ा कमाता है।

अपने लाभ के विचार से पूँजीपति मज़दूरों की मज़दूरी अर्थात् परिश्रम करने की शक्ति के दाम का दर सदा ही घटाने की कोशिश करते रहते हैं। परिश्रम की शक्ति के मूल्य और परिश्रम के मूल्य पर विचार करते समय हम यह भी देख चुके हैं कि पूँजीपति के व्यवसाय में परिश्रम करनेवाले मज़दूर के परिश्रम के दो भाग होते हैं। मज़दूर के परिश्रम का

एक वह भाग होता है जो उसकी परिश्रम की शक्ति के मूल्य में उसे दे दिया जाता है और उसके परिश्रम का दूसरा भाग वह होता है, जिसका उसे कोई फल नहीं मिलता—अर्थात् अतिरिक्त श्रम। मज़दूर इस रहस्य को नहीं जानता। उसे यही समझाया जाता है कि जितने दाम का परिश्रम उसने किया है, उतना दाम उसे मिल गया है। पूँजीवादी न्याय मज़दूर को कहता है कि तुम्हारे परिश्रम का जो दाम एक पूँजीपति तुम्हें देता है उसे यदि तुम कम समझते हो तो दूसरी जगह मज़दूरी तलाश कर सकते हो। मज़दूरी का दर समाज भर में एक ही रहता है क्योंकि सभी पूँजीपति अतिरिक्त श्रम से लाभ उठाना चाहते हैं।

यदि मजदूरी उसी पदार्थ के रूप में दी जाय जिसे वह अपने परिश्रम से तैयार करता है तो उसे इस बात का अनुमान हो सकता है कि उसके परिश्रम के फल का कितना भाग उसे मिलता है और कितना भाग मालिक की जेब में चला जाता है। परन्तु मज़दूरी या वेतन का पर्दा मज़दूर से उसके शोषण की वास्तविकता छिपाये रहता है।

पूँजीवादी समाज में मेहनत करने वाली साधनहीन श्रेणी पैदावार तो बहुत अधिक करती है परन्तु ख़र्च करने के लिये बहुत कम पाती है। पैदावार की शक्ति और साधन तो ख़ूब बढ़ते जाते हैं परन्तु पैदावार ख़र्च करने की जनता की शक्ति घटती जाती है। इन सबका कारण है—अतिरिक्त मूल्य के रहस्यमय मार्ग द्वारा जनता के परिश्रम का मुनाफ़े के रूप में पूँजीपति श्रेणी के खजानों में जमा होते जाना। इस व्यवस्था से मेहनत करने वाली साधनहीन श्रेणी तो संकट भोगती ही है, परन्तु पूँजीपति श्रेणी को भी कम उलझन का सामना नहीं करना पड़ता। वे जो पैदावार कर बाजार में लाते हैं उसे जनता खपा नहीं सकती। पूँजीपतियों के पैदावार के विशाल साधन निश्प्रयोजन खड़े रहते हैं। उन साधनों में लगी उनकी पूँजी उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती और वे भयंकर आर्थिक संकट अनुभव करने लगते हैं।

यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनत करने वाली श्रेणी का शोषण उन्हें दी जाने वाली मजदूरी के पर्दे में छिपा रहता है, जिसके द्वारा उन्हें सदा यह विश्वास दिलाया जाता है कि मेहनत का पूरा दाम मेहनत करने वालों को मिल जाता है परन्तु मज़दूरों को मिलनेवाले उनकी मेहनत के फल में नित्य कमी आती जाने से उनका जीवन दिन प्रति दिन संकटमय होता जाता है। इसलिए मज़दूर श्रेणी अपनी मज़दूरी को बढ़ाने की पुकार उठाये बिना नहीं रह सकती।

## पूँजीवाद में अन्तर विरोध—

अपनी गिरती अवस्था सुधारने के लिये मज़दूरों के संगठित यत्न पूँजीवादी व्यवस्था के आते हुए अन्त का चिन्ह हैं।

मार्क्सवाद का कहना है, जब समाज की कोई भी व्यवस्था पूर्ण विकास कर लेती है और उस व्यवस्था में समाज के लिये आगे विकास करने का अवसर नहीं रहता तो इस व्यवस्था का बंधन तोड़ने के लिये इस व्यवस्था में स्वयम् ही विरोधी शक्ति पैदा हो जाती है, जो समाज की उस व्यवस्था को तोड़कर नयी व्यवस्था का मार्ग तैयार करती है।

मार्क्सवाद के विचार से पूँजीवाद ऐसी अवस्था में पहुँच चुका है कि अब व्यवस्था को बदले बिना समाज का विकास आगे नहीं हो सकता, समाज की पैदावार की शक्तियाँ आगे उन्नति नहीं कर सकतीं। ऐतिहासिक नियम के अनुसार पूँजीवादी समाज ने अपनी व्यवस्था का अन्त कर देने के लिये स्वयम् ऐसी शक्ति को जन्म दे दिया है। यह शक्ति है, पूँजीवाद के शोषण द्वारा उत्पन्न साधनहीन श्रेणी।

पैदावार का केन्द्रीकरण कर पूँजीवाद ने इस साधनहीन श्रेणी को औद्योगिक नगरों में जमा कर संगठित होने का अवसर दिया है। पूँजीवाद ने मशीनों के विकास में सहायता देकर और मशीनों का उपयोग बढ़ाकर समाज द्वारा की जानेवाली पैदावार में मेहनत करने

वाली श्रेणी का भाग घटाकर उसे भूखा और नंगा छोड़कर उन्हें अपने जीवन की रक्षा के लिये लड़ने के लिये विवश कर दिया है। इस श्रेणी की जीवन रक्षा तभी सम्भव है जब यह श्रेणी जीवन रक्षा के साधनों को अपने हाथ में ले ले। जीवन रक्षा के साधनों को प्राप्त करने की राह पर इस श्रेणी का पहला संगठित प्रयत्न इस बात के लिये है कि समाज में यह जितनी पैदावार करती है उसमें से कम से कम निर्वाह योग्य पदार्थ तो उसे मज़दूरी के रूप में मिल जाय।

साधनहीन श्रेणी अपनी परिस्थितियों के कारण मुख्यतः तीन भागों में बँटी हुई है, जिन्हें किसान, मज़दूर और निम्न मध्यम श्रेणी के नौकरी पेशा लोग कहा जा सकता है। औद्योगिक देशों में साधनहीन श्रेणी के इन तीनों भागों में से मज़दूर लोग संख्या में सबसे अधिक हैं। संख्या में सबसे अधिक होने के अलावा उनका घरबार आदि कुछ भी शेष न रहने से समाज की मौजूदा व्यवस्था से उन्हें कुछ मोह नहीं। इनकी अवस्था में परिवर्तन आने से इन्हें कुछ गंवा सकने का डर नहीं। औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूरों के बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हो जाने से उनमें संगठित रूप से एक साथ काम करने का भाव भी पैदा हो जाता है और नगरों में रहने के कारण राजनैतिक परिस्थितियों को भी वे बहुत शीघ्र अनुभव करने लगते हैं। पूँजीवाद के विरुद्ध आने वाली साधनहीन श्रेणी की क्रान्ति में यह मज़दूर लोग ही अगुआ हो सकते हैं। किसान भी यद्यपि मजदूर की तरह ही असहाय और शोषित है परन्तु उसकी परिस्थिति उसके सचेत और संगठित होने के मार्ग में रुकावट डालती है। किसान प्रायः भूमि के एक छोटे से टुकड़े से बंधा रहता है जिस पर मेहनत करके वह जो पैदा करता है उसका केवल वही भाग उसके पास रह जाता है जिसके बिना किसान में परिश्रम की शक्ति क़ायम नहीं रह सकती, शेष चला जाता है भूमि की मालिक श्रेणी के हाथ। किसान का शोषण भी मज़दूर की ही भाँति होता है

और वह भी वास्तव में मज़दूर ही है जो मिलों में काम न कर भूमि के टुकड़े पर मेहनत करता है। परन्तु वह अपने आपको साधनहीन न समझ, एक प्रकार से भूमि के छोटे से टुकड़े का मालिक समझता है। भूमि के इस टुकड़े के मोह के कारण उसे परिवर्तन ( क्रान्ति ) से भय लगता है। किसानों के काम करने का तरीक़ा ऐसा है कि अलग-अलग काम करने से उनमें संगठन का भाव भी जल्दी पैदा नहीं हो पाता। नगरों से दूर रहने के कारण बदलती परिस्थितियों को वह बहुत देर में समझ पाते हैं। सामाजिक क्रान्ति द्वारा भूमि को समाज की सम्पत्ति बनाये बिना उनका निर्वाह नहीं, उसे इससे लाभ ही होगा, परन्तु वह इस क्रान्ति में आगे न आकर क्रान्तिकारी मज़दूरों का सहायक ही बन सकता है। बहुत सम्भव है अपने अज्ञान के कारण वह क्रान्ति का विरोध भी करने लगे। परन्तु उसके हित को ध्यान में रख कर सामाजिक क्रान्ति के मार्ग पर उसे चलाना मज़दूर श्रेणी का काम है।

निम्न श्रेणी के साधनहीन नौकरी पेशा लोगों की अवस्था भी इस आन्दोलन में महत्व की है। यह लोग यद्यपि शिक्षा की दृष्टि से साधनहीन श्रेणी के नेता होने लायक हैं परन्तु अपने संस्कारों के कारण यह अपने आपको मज़दूर श्रेणी से ऊँचा और पृथक समझते हैं। यह लोग अपनी शक्ति को श्रेणी के रूप में संगठित करने में न लगाकर अपनी वैयक्तिक उन्नति द्वारा व्यक्तिगत रूप से ऊँचा उठने का यत्न करते हैं। यह लोग पूँजीपतियों द्वारा साधनहीन श्रेणी के शोषण में पूँजीपतियों के एजेण्ट का काम करते हैं और अपना हित पूँजीपतियों का शासन क़ायम रखने में ही समझते हैं। इस श्रेणी के क्रान्ति विरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का कारण इस श्रेणी का यह विश्वास है कि साधनहीन श्रेणी का शासन हो जाने पर इन्हें भी मज़दूर बन जाना पड़ेगा, इनके जीवन निर्वाह का दरज़ा गिर जायगा। यह लोग समझते हैं कि समाजवाद में सभी लोग ग़रीब हो जाँयगे परन्तु मार्क्सवाद का विचार

इससे ठीक उलटा है। मार्क्सवाद का कहना है कि पूँजीवाद में पूँजी-पतियों के मुनाफ़ा कमा सकने और समाज को उपयोग के पदार्थ मिल सकने के उद्देश्यों में अन्तरविरोध होने के कारण समाज में पैदावार के साधनों को उनकी पूर्ण सामर्थ्य तक काम में नहीं लाया जाता। समाजवाद में इस प्रकारका विरोध न रहने से पैदावार के साधनों पर रूकावट न रहेगी और समाज में इतनी पैदावार हो सकेगी कि साधारण परिश्रम से ही सब लोगों की अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करने का अवसर रहेगा और सम्पूर्ण जनता की अवस्था समाजवाद में पूँजीवाद की अपेक्षा बहुत वेहतर हो जायगी। निम्न-मध्यम-श्रेणी के वे भाग जो सचेत होने के कारण यह समझ जाते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में अपने परिश्रम का फल उचित रूप से न पा सकने के कारण वे दिन प्रति दिन मज़दूर श्रेणी में मिलते जा रहे हैं और साधनहीन होने के नाते उनके हित मजदूरों तथा दूसरे साधनहीनों के ही समान हैं, वे साधनहीन श्रेणी के आन्दोलन में आगे बढ़कर अगुआ का काम करते हैं।

साधनहीन श्रेणियों के आन्दोलनों की गति के बारे में मार्क्स ने लिखा है :—

"...साधनहीन मज़दूर श्रेणी को मज़दूरी और वेतन की ग़ुलामी में फँसाकर उसका भयंकर शोषण हो रहा है और वह जीवन के कुछ अधिकार पा सकने के लिये छटपटा रही है। परन्तु इस श्रेणी को इन छोटे-मोटे सुधारों के मोह में नहीं फँसना चाहिये। उन्हें याद रखना चाहिये कि इस आन्दोलन द्वारा वे केवल पूँजीवाद के परिणामों को ही दूर करने का यत्न कर रहे हैं। वे पूँजीवाद को, जो उनकी मुसीबतों का कारण है, दूर करने का यत्न नहीं कर रहे। वे अपनी गिरती अवस्था में केवल रोक लगाने का यत्न कर रहे हैं, अपनी अवस्था को उन्नति की ओर ले जाने का यत्न नहीं कर रहे। वे समाज की इमारत को नये सिरे से बनाने

का यत्न न कर गिरती हुई इमारत में टेक देने का यत्न कर रहे हैं... मुनासिब काम के लिये मुनासिब मज़दूरी की जगह अब उन्हें अपना यह नारा बुलन्द करना चाहिये......मज़दूरी और पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ात्मा हो।

मार्क्सवाद इतिहास के जिस क्रम और विचारधारा में विश्वास करता है उसके अनुसार पूँजीवादी प्रणाली में सुधार और लीपापोती की गुँजाइश बाकी नहीं। वह अपना उद्देश्य एक नवीन समाज का निर्माण समझता है।

पूँजीवाद में कृषि—

उद्योग धन्दों के पूँजीवादी ढँग पर संगठित हो जाने से पहले भी खेती और खेती से सम्बन्ध रखनेवाले कारोबार-पशुपालन, फलों को उत्पन्न करना आदि जारी थे और आज तक वे सब काम कहीं उसी रूप में और कहीं परिवर्तित रूप में चले आ रहे हैं।

पूँजीवाद का पहला प्रभाव खेती पर यह पड़ा कि उद्योग-धन्दों के कारखानों के रूप में जारी होने के कारण उनका खेती से कोई सम्बन्ध न रह गया। पूँजीवादी व्यवस्था का आरम्भ होने से पहले प्रायः उद्योग धन्दे और खेती का काम एक साथ ही होता था। किसान या तो खेती के काम से बचे समय में कपड़ा जूता और उपयोग के दूसरे सामान तैयार कर लेता था या किसान के परिवार का कोई एक आदमी परिवार भर के लिये इन पदार्थों को तैयार कर लेता था। परन्तु कारखानों में यह पदार्थ अधिक सस्ते और अच्छे तैयार हो सकने के कारण किसानों का इन पदार्थों का स्वयम् तैयार करना लाभदायक न रहा। उद्योग धन्दे सिमट कर शहरों में चले गये और गाँवों में केवल खेती का ही काम रह गया।

समाज में पूँजीवादी व्यवस्था आरम्भ हो जाने का प्रभाव खेती

पर भी काफ़ी पड़ा। पूँजीवाद ने कला-कौशल की उन्नति कर और मज़दूरों की माँग पैदा कर खेती की पुरानी जागीरदारी व्यवस्था में काफ़ी परिवर्तन किया। पहले तो इसका प्रभाव यह हुआ कि किसान लोग जागीरों से दौड़कर औद्योगिक नगरों की ओर आने लगे और जागीरें टूटने लगीं परन्तु जब पूँजीपतियों के पास पूँजी की बड़ी मात्रा इकट्ठी होगई तो इसका यह प्रभाव भी हुआ कि पूँजीपतियों ने जागीरें बनाना शुरू किया। खासकर बड़े-बड़े फार्मों के रूप में जागीरें, जिनमें खेती किसानों की बढ़ी संख्या द्वारा न हो कर मशीनों द्वारा होने लगी।

उद्योग-धन्दों की पैदावार में पूँजीवादी व्यवस्था आरम्भ हो जाने से उद्योग-धन्दों के केन्द्र नगरों और खेती की जगह-गाँवों-की अवस्था में बहुत बड़ा अन्तर आ गया। विज्ञान के विकास से औद्योगिक क्षेत्र में आये दिन परिवर्तन होता रहता है। मनुष्यों का स्थान मशीनें ले लेती हैं, रफ़्तार और चाल में उन्नति हो जाती है परन्तु खेती की अवस्था पर इन सब बातों का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। समाज की आवश्यकता को उद्योग धन्दे और खेती मिलकर पूरा करते हैं। उनमें से एक के बहुत आगे बढ़ जाने और दूसरे के बहुत पीछे रह जाने से विषमता आ जाना स्वाभाविक है। पूँजीवाद द्वारा धन के केवल एक छोटी सी श्रेणी के हाथों में एकत्र हो जाने का प्रभाव खेती करने वालों पर भी बहुत गहरा पड़ता है। कृषि के क्षेत्र में होनेवाला शोषण न केवल अधिक पुराना है बल्कि मज़दूर की अपेक्षा किसान के अधिक पराधीन होने के कारण वह अधिक गहरा भी है।

खेती द्वारा आवश्यक पदार्थों की पैदावार करने के लिये सब से पहले भूमि की ज़रूरत पड़ती है। पूँजीवादी देशों में भूमि कुछ बड़े बड़े जमींदारों की सम्पत्ति होती है। यह ज़मींदार स्वयम् भूमि से कुछ पैदावार नहीं करते। किसानों को खेती करने के लिये भूमि देकर यह उनसे लगान वसूल कर लेते हैं। खेती के लिये कुछ भी परिश्रम न कर यह

खेती की उपज का भाग इस लिये ले सकते हैं, क्योंकि यह लोग भूमि के मालिक समझे जाते हैं।

भूमि जागीरदारों के अधिकार में प्रायः तीन तरह आ जाती है। मध्यकाल में जब सामन्तशाही और सरदारशाही का ज़ोर था भूमि को राजा लोग दूसरे राजाओं से जीत कर अपने सरदारों में बाँट देते थे। जिस सरदार की जितनी शक्ति होती थी, या जितनी सहायता की आशा राजा जिस सरदार से कर सहायता था उतनी ही भूमि उस सरदार को दे दी जाती थी। भारतवर्ष में कुछ जागीरें, ज़मींनदारियाँ और ताल्लुक़दारियाँ मुग़लों, मराठों और सिखों के समय से चली आ रही हैं। यह ज़मींदार और जागीरदार हैं जिन्होंने अंग्रेज़ी राज आने पर मौजूदा सरकार की राजभक्ति स्वीकार कर ली। कुछ जागीरदारियाँ अंग्रेज़ी सरकार ने भूमि का कर किसानों से सुविधा पूर्वक वसूल करने के लिये क़ायम कर दीं। सरकार ने कुछ लोगों को भूमि के बड़े-बड़े भाग मालगुज़ारी की एक निश्चित रकम पर सौंप दिये और उन्हें किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार दे दिया। सरकार की शक्ति के बल पर यह लोग किसानों से लगान वसूल करते हैं और मालगुज़ारी सरकार को अदा करते हैं। लगान और मालगुज़ारी के बीच का अन्तर इन लोगों की आमदनी बनजाती है।

खेती की भूमि पर वसूल किये जानेवाले कर द्वारा ही भूमि के मालिक की आमदनी होती है और इसी कर द्वारा खेती के लिये मेहनत करनेवाले किसान का शोषण होता है। इसलिये कर के अनेक रूपों और भेदों को समझ लेना ज़रूरी है।

खेती की सम्पूर्ण भूमि पर कर होता है। यह कर या लगान कहीं अधिक होता है कहीं कम। यदि हम भूमि के सबसे कम कर को 'आवश्यक कर' ( Abssolute rent ) मान लें तो अधिक उपजाऊ या शहर के समीप की भूमि पर जो अधिक कर वसूल किया जाता है उसे 'विशेष-

कर' ( Differential rent ) कहेंगे। भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर कुछ न कुछ कर होने का कारण यह है कि पैदावार के औद्योगिक साधनों को जिस प्रकार आवश्यकता अनुसार बढ़ाया जा सकता हैं, उस प्रकार भूमि को नहीं बढ़ाया जा सकता। बंजर वा शहर से दूर की भूमि को छोड़कर उपजाऊ और शहर के नज़दीक की भूमि आवश्यकयतानुसार तैयार नहीं की जा सकती। इसलिये भूमि के किसी भी टुकड़े को जोतने की आवश्यकता होने पर उसके लिये मालिक को कर देना ही पड़ेगा। जो भूमि अधिक उपजाऊ होगी या शहर के अधिक समीप होगी, जहाँ सिंचाई आसानी से हो सके ऐसी भूमि पर विशेष लगान या कर वसूल किया जाता है। इस प्रकार की अच्छी ज़मीन पर जो विशेष कर या लगान वसूल किया जाता है वह भूमि के मालिक की जेब में ही जाता है परन्तु भूमि को अच्छी बनाने या भूमि के शहर या जल के समीप होने में भूमि के मालिक को कुछ परिश्रम नही करना पड़ता।

सभी पूँजीवादी देशों में भूमि के दो मालिक होते हैं। प्रथम तो सरकार जो खेती के काम आने वाले भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर कर या मालगुजारी वसूल करती है। दूसरा मालिक होताहै भूमि का मालिक समझा जाने वाला व्यक्ति जो भूमि का कर सरकार को अदाकर उसे किसान से जुतवाता है और अपना लगान किसान से वसूल करता है। सरकार का कर और ज़मींदार का लगान अदा किये जाते हैं खेती की उपज से परन्तु खेती की उपज में न तो ज़मीन्दार और न सरकार कुछ परिश्रम करती है। परिश्रम सब करता है किसान और किसान के परि-श्रम से की गई पैदावार से ज़मीन्दार और सरकार का भाग निकाला जाता है। यदि किसान के परिश्रम को बाँटकर देखा जाय तो उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग वह जिसे वह स्वयम ख़र्च करता है ताके उसके शरीर में परिश्रम की शक्ति क़ायम रह सके और दूसरा भाग वह जिसे भूमि का मालिक किसान से ले लेता है और उसमें से

आगे सरकार को कर देता है। किसान अपनी सम्पूर्ण उपज अपने लिये ख़र्च नहीं कर सकता। वह जितना ख़र्च करता है, उससे कहीं अधिक पैदा करता है। यदि किसान जितना अपने और अपने परिवार के लिये ख़र्च करता है उतना ही पैदा करे तो उसे बहुत कम स्थान पर खेती करनी होगी और बहुत कम परिश्रम करना होगा। मौजूदा व्यवस्था में किसान को जितना वह ख़र्च करता है, उससे बहुत अधिक पैदा करना पड़ता है। मज़दूर की अवस्था के साथ तुलना करने पर हम कहेंगे कि किसान को काफ़ी मात्रा में अतिरिक्त या फ़ालूत पैदावार करनी पड़ती है जो जमीन्दार और सरकार के व्यवहार में आती है।

किसान से छीन ली जाने वाली यह अतिरिक्त पैदावार किसान को इस योग्य नहीं रहने देती कि जितने दाम की फ़सल वह बाज़ार में भेजता है उतने दाम का दूसरा सौदा बाज़ार से लेकर खर्च कर सके। किसान के श्रम का यह फल या धन चला जाता है भूमि के मालिकों की जेब में और वहाँ से पूँजीपतियों की जेब में। या भूमि के मालिक स्वयम ही पूँजी इकट्ठी हो जाने पर उसे पूँजीवादियों के व्यवसायों में सूद पर या पत्ती के रूप में लगा देते हैं। अतिरिक्त श्रम के रूप में किसान का यह शोषण जिसे भूमिकर या लगान कहा जाता है, किसान द्वारा की जाने वाली पैदावार में लगा एक पम्प है जो किसान के पास सिवा उसके परिश्रम की शक्ति को क़ायम रखने के और कुछ नहीं छोड़ता। किसान संगठित न होने और अपने अधिकार के लिये आवाज़ न उठा सकने के कारण उसके पास अपने परिश्रम का उतना भाग भी नहीं रह पाता जितने से वह परिश्रम करने लायक स्वस्थ अवस्था में रह सके। यह प्रत्यक्ष बात है कि इस देश के किसान न केवल इस देश के लिये बल्कि अनेक देशों के उद्योग-धन्दों के लिये कच्चा माल पैदा करने के बावजूद स्वयम आधा पेट खा, शरीर से प्रायः नंगा रहकर निर्वाह करता है। उसकी सम्पूर्ण पैदावार अतिरिक्त श्रम या

पैदावार का रूप धारण कर इस देश तथा दूसरे देशों के पूँजीपतियों की जेब में चली जाती है। प्रत्यक्ष में किसान की अतिरिक्त पैदावार उससे छीन लेने को ही भूमिकर का नाम दिया जाता है।

पूँजीवाद के विकास से भूमिकर बहुत तेज़ी से बढ़ता है। क्योंकि नये-नये उद्योग धन्दे जारी होने से नई-नई किसम की वस्तुयें पैदा करनी पड़ती है इसके लिये नई भूमि तोड़ी जाती है। जो नई भूमि तोड़ी जायगी उस पर भी कर लगेगा। पूँजीपति या भूमि का मालिक नई भूमि उसी समय तोड़ेगा जब वह पहले से उपयोग में आने वाली भूमि पर लगने वाले लगान को लाभदायक समझेगा। नई भूमि तोड़ने से पहले खेती के काम में आने वाली भूमि के लगान का दर बढ़ेगा और जब बढ़ा हुआ दर देने की अपेक्षा कोई व्यक्ति नई भूमि तोड़ना ही पसन्द करेगा तभी नई भूमि तोड़ी जायगी। इस प्रकार भूमि के प्रत्येक नये भाग को तोड़ने से पहले जोती जाने वाली पुरानी और अच्छी भूमि पर लगान बढ़ता चला जायगा, इस हद तक कि किसान के पास कठिनता से निर्वाह मात्र के लिये उसके परिश्रम का एक बहुत छोटा सा भाग रह जायगा।

यदि भूमि के किसी भाग की पैदावार की शक्ति सिंचाई आदि का प्रबन्ध कर बढ़ाई जाती है तो उसका लगान भी साथ ही बढ़ जाता है और पैदावार में होने वाली बढ़ती सब मालिक के पास पहुँच जाती है।

किसान के परिश्रम का बहुत बड़ा भाग अतिरिक्त श्रम या भूमि के लगान की सूरत में उससे छीन लिया जाने के कारण किसान के पास अपनी भूमि की अवस्था सुधारने या खेती के नये वैज्ञानिक साधन व्यवहार में लाने लायक सामर्थ्य नहीं रहता और भूमि की उपज घटने लगती है। परन्तु लगान और कर बढ़ते जाने से भूमि की क़ीमत बढ़ती जाती है। खेती की अवस्था में यह अन्तर विरोध संकट पैदा कर देता है। ऐसी अवस्था में किसानों के लिये भूमि के मालिक के संतोष के

लायक लगान देना कठिन हो जाता है और किसान खेती छोड़, निर्वाह का कोई और साधन न देख मज़दूर बनने के लिये चल देता है। उसकी "जोत" की भूमि बिकने लगती है परन्तु भूमि का दाम तो लगान बढ़ने के साथ बढ़ चुका है इसलिये मामूली साधनों के मालिक के लिये उसे ख़रीदना सम्भव नहीं होता। वह बिकती है बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ, इस प्रकार पैदावार के दूसरे साधनों की ही तरह भूमि भी पूँजीपतियों के हाथ चली जाती है।

बड़े परिमाण में खेती—

पूँजीवाद द्वारा उद्योगधन्दों के विकास और पैदावार की बहुत अधिक बढ़ती का रहस्य पैदावार को केन्द्रित कर बड़े परिमाण में करना है। पैदावार को एक स्थान पर बड़े परिमाण में करने से उसमें आधुनिक ढंग की बड़ी मशीनों का व्यवहार हो सकता है, ख़र्च घट सकता है और मनुष्य की पैदावार की शक्ति बढ़ सकती है। मनुष्य जितनी ही विकसित और बड़ी मशीन पर काम करेगा उसी परिमाण में उसकी पैदावार की शक्ति बढ़ सकेगी। उद्योग-धन्दों के क्षेत्र में बड़े परिमाण में पैदावार समाज की पैदावार की शक्ति को बढ़ाती है, इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं। परन्तु खेती के विषय में कुछ लोगों की राय इससे भिन्न है। पूँजीवादी प्रणाली में विश्वास रखने वालों का कहना है कि बड़े परिमाण में खेती पैदावार को बढ़ाने की अपेक्षा घटायेगी। दलील के तौर पर कहा जाता है कि बड़े परिमाण में खेती करने से किसान को भूमि के प्रति वह सहानुभूति और प्रेम नहीं रहेगा जो छोटे परिमाण में खेती करने पर होता है। परन्तु मार्क्सवाद का विश्वास है कि और दूसरे उद्योगों की तरह खेती भी बड़े परिमाण में ही होनी चाहिए, इसके बिना न तो खेती की पैदावार ही उचित मात्रा में बढ़ सकती है, न समाज में खेती की और उद्योग धन्दों की पैदा-

वार का बँटवारा समान रूप से हो सकता है, न किसानों की आर्थिक अवस्था सुधर सकती है।

यदि उद्योग-धन्दों में काम करने वाली श्रेणी मशीन से पैदावार करेगी तो उसकी पैदावार की शक्ति बढ़ जायगी। उसे अपनी मेहनत का अधिक फल मिलेगा, परन्तु किसानों के मशीन से मेहनत न करने पर उनकी पैदावार की शक्ति न बढ़ेगी और उन्हें उनकी मेहनत का फल कम मिलेगा। इस प्रकार खेती और उद्योग धन्दों की पैदावार का विनिमय समान रूप में न हो सकेगा।

पूँजीवादी लोग खेती को बड़े परिणाम में बड़ी मशीनों से करने के पक्ष में इसलिये नहीं कि भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर मशीनों का व्यवहार नहीं हो सकता। उसके लिये मीलों लंबे खेत चाहिए। ऐसे खेत बनाने में अनेक ज़मींदारों की मिलकियत मिट जायगी। उद्योग धंदों में जिस प्रकार पूँजीपति निजी पूँजी को बढ़ा सकता है, ज़मींदार अपनी भूमि को नहीं बढ़ा सकता। खेती को बड़े परिमाण पर करने के लिये या तो ज़मींदारों का अधिकार भूमि पर अस्वीकार करना होगा या अनेक ज़मींदारों की भूमि एक में मिलाकर उसे समाज के नियंत्रण में रखना होगा। मार्क्सवादियों का कहना है, बड़े परिमाण में खेती करने के सम्बन्ध में जितने भी एतराज़ किये जाते हैं, रूस के अनुभव से व सब निराधार प्रमाणित हो गये हैं।

खेती को संयुक्त रूप से बड़े परिमाण पर करने से ही उसमें ट्रेक्टर आदि बड़ी-बड़ी मशीनों और सिंचाई का प्रबन्ध हो सकेगा। खेती के सुधार के लिये बड़े परिमाण पर कर्जा मिल सकेगा और खेती की पैदावार को बेचने वालों में परस्पर होड़ न होने से उसे ठीक समय और पूरे मूल्य में बेचा जा सकेगा। खेती की पैदावार के विनियम का काम संयुक्त रूप से और बड़े परिमाण में होने पर उसे व्यवहार में लानेवाली जनता तक पहुँचाने का काम व्यापारियों और साहूकारों के हाथ न रह

सकेगा। किसान अपने प्रतिनिधि संगठन द्वारा उसे स्वयम कर लेगा, इस तरह किसान के श्रम का वह बड़ा भाग जो इन व्यापारियों की जेब में जाता है किसान के उपयोग में आयगा। खेती बड़े परिमाण में और संयुक्त रूप से करने पर किसान की मानसिक उन्नति का भी अवसर रहेगा। मशीन का व्यवहार करने से वह दिन रात भूमि से सिर मारने के लिये विवश न होगा बल्कि उसे शिक्षा और संस्कृति प्राप्त करने के लिये समय मिल सकेगा और किसानों के परस्पर सहयोग से काम करने पर उनमें श्रेणी भावना और चेतना भी उत्पन्न हो सकेगी। जिसका उनमें न होना उनके शोषण को पशुता की सीमा तक पहुँचा देता है। मशीनों का व्यवहार खेती में होने से ही किसान, जो वास्तव में मिल-मज़दूर की तरह खेत-मज़दूर है, औद्योगिक धन्दों मे काम करनेवाले मज़दूर के समान उन्नति कर सकेगा।

आर्थिक संकट—

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते समय समाज में आनेवाले संकट का विचार निरंतर हमारे सामने रहा है। अन्त मार्क्सवाद के इस सम्बन्ध के सिद्धान्तों को संक्षेप से रख देना उचित होगा।

पूँजीवादी समाज में पैदावार का काम समाज के सभी लोग मिलकर करते हैं परन्तु व्यवस्था का नियंत्रण करनेवाली पूँजीपति श्रेणी अपने व्यक्तिगत मुनाफे के प्रश्न को ही सामने रखती है। इसलिये समाज की आवश्यकताओं का न तो सही अनुमान ही हो सकता है और न उसके उपयुक्त पैदावार ही। पूँजीवादी समाज में पैदावार करने वाले अपने व्यवहार के लिये नहीं बल्कि उसे बेचकर मुनाफ़ा कमाने के लिये पैदावार करते हैं। पैदावार करने वालों को समाज की आवश्यकताओं और खपत की शक्ति का अन्दाज़ा ठीक नहीं हो सकता और समाज में पैदावार के बड़े बड़े साधनों से जो पैदावार की जाती है उसकी खपत

नहीं हो पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि समाज को उस पैदावार की ज़रूरत नहीं। हाँ, समाज के पास उसे ख़रीदने की शक्ति नहीं रहती। यदि हम पूँजीपति के मुनाफ़े को ही समाज का उद्देश्य न मान कर समाज की आवश्यकता पर विचार करें तो दो प्रश्न उठते हैं प्रथम पैदावार कौन करता ? दूसरे समाज में पैदावार को कौन ख़पा सकता है ? पहले प्रश्न का उत्तर है—समाज में पैदावार मेहनत करने वाले करते हैं। दूसरे प्रश्न का उत्तर है—समाज में तैयार सामान के अधिकांश की ख़पत समाज में मेहनत करने वाले करते हैं।

हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समाज में जो लोग पैदावार के लिये परिश्रम करते हैं, वही पैदावार को ख़र्च करने वाले भी हैं। यदि पैदावार के लिये परिश्रम करने वालों को अपने परिश्रम का ( केवल परिश्रम की शक्ति को क़ायम रखने का नहीं ) फल मिल जाय, तो पैदावार फालतू पड़ी नहीं रह सकती। परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये पैदावार पड़ी रह जाती है और पैदावार का क्रम टूट जाता है।

पैदावार से मुनाफ़े के रूप में जो भाग निकाल कर एक तरफ़ रख दिया जाता है वह पैदावार और ख़र्च के पलड़ों को बराबर नहीं होने देता। मुनाफ़ा समाज की पैदावार करने की शक्ति को बढ़ा देता है परन्तु समाज की ख़र्च करने की शक्ति को घटा देता है। इसलिये एक तरफ तो पैदावार के अम्बार लग जाते हैं और दूसरी ओर जनता आवश्यकताएँ पूरी न हो सकने के कारण बिलखते रहने पर भी पैदावार को ख़र्च नहीं कर सकती, क्योंकि उनके पास ख़रीदने की शक्ति नहीं। ख़र्च करने की शक्ति तो मुनाफ़े के रूप में उनसे छीन ली गई है ! पैदावार ख़र्च न हो सकने के कारण उसे कम करने की ज़रूरत अनुभव होती है ; इसका अर्थ होता है—बेकारी और बढ़े, मेहनत कर सकने वालों की संख्या घटे। मज़दूरी के रूप में ख़रीदने की शक्ति जनता के पास और कम हो जाय साथ ही खर्च कर सकने वालों की संख्या और भी घटे

और पैदावार को और भी कम किया जाय। इस प्रकार यह चक्कर समाज में पैदावार और ख़र्च के दायरे कम करता हुआ समाज की एक बड़ी संख्या को भूखे और नंगे रहकर मरने के लिये छोड़ देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवाद—

वैज्ञानिक साधनों के विकास से पैदावार की शक्ति के बहुत अधिक बढ़ जाने पर जब भिन्न-भिन्न देशों के पूँजीपति अपनी पैदावार को अपने देश में नहीं खपा सकते तो उन्हें दूसरे देशों के बाज़ारों में अपना माल पहुँचाना पड़ता है। पूँजीपति अपना माल दूसरे देशों में वेच कर मुनाफ़ा उठाना तो पसन्द करते हैं परन्तु अपने देश में दूसरे देश के पूँजीपतियों का माल आकर बिकना पसन्द नहीं करते क्योंकि इससे उनके मुनाफ़े का क्षेत्र घट जाता है। अलावा इसके प्रकृति ने उपयोगी पदार्थों को सभी देशों में समान रूप से बाँट दिया है या कहिये, प्रकृति ने अलग अलग देशों को अपना-अपना निर्वाह अकेले कर सकने के लिये नहीं बनाया। व्यापार, व्यवसाय और पैदावार के कुछ पदार्थ एक देश में बहुत अधिक मात्रा में मिल सकते हैं और कई ऐसे पदार्थ हैं जो उस देश मेंनहीं मिल सकते। यह पदार्थ इन देशों को दूसरों से लेने देने पड़ते हैं। कोई देश अकेला निर्वाह नहीं कर सकता परन्तु प्रत्येक देश के पूँजीपति अपने-अपने व्यवसाय में मुनाफ़ा कमाने के लिये दूसरे देशों के व्यापारिक आक्रमण से बचना चाहते हैं और दूसरे देशों पर आक्रणम करना चाहते हैं।

प्राकृतिक और ऐतिहासिक अवस्थाओं के कारण सभी देशों में औद्योगिक विकास समान रूप से नही हो पाता। औद्योगिक रूप से जिन देशों का विकास कम हुआ है, उनमें खेती द्वारा कच्चे माल की पैदावार अधिक होती है और वह देश अपनी कच्चे माल की पैदावार को खपा सकने में असमर्थ रहते हैं। इन देशों में कच्चा माल सस्ता मिल सकता है और वहाँ औद्योगिक माल वेचकर मुनाफ़ा कमाने की गुंजा-

इश रहती है। इसलिये औद्योगिक रूप से उन्नत देश कम उन्नत देशों पर प्रभुत्व जमाकर आर्थिक लाभ उठाने का यत्न करते हैं। कम उन्नत देश पूँजीवादी उन्नत देश द्वारा अपने शोषण को रोक न सकें, या दूसरे उन्नत पूँजीवादी देश उन देशों आकर उनका बाज़ार खराब न कर सकें, वहाँ उनका पूरा एकाधिकार और ठेका कायम रहे इस लिये औद्योगिक रूप से उन्नत पूँजीवादी देश कम उन्नत देशों को अपने राजनैतिक अधिकार में रखने का यत्न करते हैं। कम उन्नत देश या तो उन्नत पूँजीपति देशों के आधीन हो जाते हैं या उन्हें उपनिवेश बना लिया जाता है या उन्हें संरक्षण में ले लिया जाता है। इस प्रकार योरुप के कुछ देशों ने औद्योगिक विकास और पूँजीवाद की उन्नति के बाद सन् १८७६ से लेकर १९१४ के महायुद्ध से पूर्व कम उन्नत देशों, अफ्रीका एशिया आदि में योरुप के क्षेत्रफल से दुगनी भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। इसमें सबसे अधिक भाग इंगलैण्ड और फ्रांस का था। इंगलैण्ड इससे पूर्व भी भारत ब्रह्मा आदि देशों को आधीन कर चुका था और कैनाडा आस्ट्रेलिया दक्षिण अफ्रीका में अपने उपनिवेश बसा चुका था। जर्मनी और इटली में पूँजीवाद का विकास बाद में होने के कारण उनके होश सम्भालने से पहले ही इंगलैण्ड और फ्रांस पृथ्वी का बड़ाभाग सम्भाल चुके थे। भूमि की एक सीमा है, उसे पूँजीवादी देशों के शोषण के लिये आवश्यकतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता इस लिये पूँजीवादी देशों में झगड़ा होना आवश्यक होजाता है।

मार्क्सवाद के अनुसार किसी देश का पूँजीवाद जब मुनाफ़े के लिये अपने देश से बाहर कदम फैलाता है तो वह साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन समय का साम्राज्यवाद सैनिक आक्रमण के रूप में आगे बढ़ता था और पराधीन देशों का शोषण भूमि कर के रूप में करता था। पूँजीवाद का औद्योगिक साम्राज्य विस्तार

(Indstrial Emperialism ) आरम्भ होता है व्यापार से और अपने व्यापार को दूसरे देशों के मुकाबिले में सुरक्षित रखने के लिये और पिछड़े हुए देशों के कच्चे माल पर एकाधिकार रखने के लिये साम्राज्यवादी देशों में परस्पर झगड़ा और युद्ध होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार पूँजीवाद के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है साम्राज्यवाद। जिस प्रकार पूँजीवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता से आरंभ होकर पूँजीपतियों के एकाधिकार में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार साम्राज्यवाद भी अन्तरराष्ट्रीय स्वतंत्र व्यापार से आरंभ होकर बलवान पूँजीपति राष्ट्रों के एकाधिकार में परिवर्तित हो गया है और इस एकाधिकार को प्रत्येक पूँजीवादी राष्ट्र के पूँजीपति अपने ही अधिकार में रखना चाहते हैं। इसका परिणाम निरंतर अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष है।

साम्राज्यवाद के ऐतिहासिक विकास की तुलना हम पूँजीवाद से इस प्रकार कर सकते हैं:—पूँजीपति व्यक्ति की ही तरह किसी उन्नत देश के पूँजीपति अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में कम हैसियत के पूँजीवादी राष्ट्रों को कुचलकर शोषण के क्षेत्र पर अपना एकाधिकार क़ायम करने का यत्न करते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति एक व्यापारी की अवस्था से औद्योगिक साधनों द्वारा पैदावार के पदार्थों को बनाने वाला बनकर मुनाफ़े के ज़रिये भारी पूँजी इकट्ठी कर चुकने के बाद स्वयम कुछ भी न कर, रुपये के रूप में अपनी पूँजी की शक्ति को उधार देकर पैदावार का मुख्य भाग स्वयं खींचता रहता है उसी प्रकार पूँजीपति देश अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में पहले केवल व्यापार-वाणिज्य द्वारा पूँजी इकट्ठी करते हैं, उसके बाद अपनी औद्योगिक पैदावार दूसरे देशों पर लादते हैं और इस अवस्था से उन्नत्ति कर दूसरे देशों को अपनी पूँजी में जकड़ना आरम्भ करते हैं ( Finance Emperialism )। ऐसी अवस्था में पहुँच कर पूँजीपति देश आधीन देशों और उपनिवेशों की पैदावार में कोई भाग नहीं लेते। वे पैदावार का मुख्य साधन पूँजी उन देशों

में लगाकर मुनाफ़े का भाग खींचते रहते हैं और उन देशों की आर्थिक प्रगति और राजनीति पर अपना नियंत्रण रखते हैं।

जिस प्रकार पूँजीपति श्रेणी परिश्रम करने वाली श्रेणी के परिश्रम को मुनाफ़े के रूप में निगलती रहती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद अर्थात एक देश के पूँजीपतियों द्वारा दूसरे देश पर अधिकार का अर्थ पराधीन देश के परिश्रम का शोषण।

जिस प्रकार परिश्रम करने वाली श्रेणी के शोषण से पूँजीपति अपनी शक्ति को बढ़ा कर अपने शोषण का क्षेत्र बढ़ाता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी देश अपने देश का शोषण कर दूसरे देशों को पराधीन बनाकर शोषण करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त एक देश में उसे समाप्त कर देने से नहीं हो सकता, उसी प्रकार साम्राज्यवाद का अन्त भी किसी एक देश के प्रयत्न से नहीं हो सकता। उसके लिये साधनहीनों के संगठित अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न की आवश्यकता है। जिस प्रकार पूँजीवाद अपने देश में साधनहीन श्रेणी पैदाकर अपनी विरोधी शक्ति पैदा कर लेता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद शोषण के क्षेत्र को घेरकर नये उगते हुए साम्राज्य-अभिलाषी देश और शोषित देश पैदाकर अपना विरोध करनेवाली शक्ति पैदाकर देते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति अपने देश में पैदावार के साधनों पर मिल्कियत जमाकर मेहनत करने वाली श्रेणी को जीवन के उपायों से हीन कर देता है उसी प्रकार एक पूँजीवादी देश के साम्राज्य का विस्तार व्यापार के क्षेत्रों को अपने वश में कर नये उगते हुए राष्ट्रों और पराधीन राष्ट्रों का जीवन असम्भव कर देता है। जिस प्रकार एक देश में आर्थिक संकट पूँजीवादी व्यवस्था की अयोग्यता स्पष्ट करता है और नई व्यवस्था की आवश्यकता प्रकट करता है, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में साम्राज्यवादी युद्ध साम्राज्यवादी व्यवस्था का निर्वाह असंभव कर देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय-पूँजीवादी-साम्राज्यवाद—

काटस्की का कहना है कि साम्राज्य विस्तार का यत्न पूँजीवाद का आवश्यक परिणाम नहीं। साम्राज्य विस्तार की नीति की जिम्मेदारी पूँजीवादी देशों के कुछ एक पूँजीपतियों पर है। पूँजीवादी देश इस विषय में समझौता कर अपना माल खपाने के लिये और कच्चा माल प्राप्त करने के लिये संसार को बाँट लें तो सभी पूँजीवादी राष्ट्रों की आवश्यकता पूरी हो सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का होना ज़रूरी नहीं रहेगा।

काटस्की का यह सिद्धान्त तो इतिहास के अनुभव पर पूरा नहीं उतरता। काटस्की यह भूल जाता है कि जिस प्रकार एक देश में आर्थिक हितों की रक्षा के लिये श्रेणियाँ राजनैतिक शक्ति का व्यवहार करती हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पूँजीवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिये अपने राष्ट्रों की सैनिक शक्ति का व्यवहार करते हैं। जब तक पूँजीवादी राष्ट्रों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुनाफ़ा कमाने का प्रश्न है उनमें समझौता नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्र इस लूट में सब से बड़ा भाग लेने का यत्न करेगा। जब तक बलवान पूँजीवादी देशों का भय रहेगा, निर्बल पूँजीवादी देश लूट के बाज़ार में कम भाग लेना स्वीकार कर लेंगे। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय शोषण द्वारा सैनिक शक्ति बढ़ते ही वह और अधिक बाज़ारों और उपनिवेशों की माँग करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें इस बात की गवाह हैं। अपनी पूँजी की शक्ति और सैनिक शक्ति बढ़ाकर पहले इटली ने केवल अबीसीनिया की माँग की परंतु अबीसीनिया हज़्म होते ही उसे और उपनिवेशों और प्रदेशों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अबीसीनिया हज़्म करने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा के लिये उसका और फ्रांस से समझौता टूट गया। दूसरा उदाहरण जर्मनी का हमारे सामने है। अपनी सीमा के देशों को अपनी पूँजीवादी लूट का क्षेत्र बना कर भी जर्मनी की पूँजीपति श्रेणी की साम्राज्य लिप्सा शांत न हुई। जर्मनी ने दूसरे

मानो,
देशों और उपनिवेशों का [illegible]
निर्बल और पिछड़े हुए देशों का जन्म जर्मनी के साम्राज्यवाद का शिकार बनने के लिये ही हुआ हो।

यदि काटस्की के अन्तर्राष्ट्रीय-पूँजीवादी-साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार पूँजीवादी राष्ट्र परस्पर समझौते द्वारा संसार के निर्बल राष्ट्रों को शोषण के लिये परस्पर बाँट भी लें तो वह समझौता भी संसार में चिर शांति स्थापित नहीं कर सकता। शोषित राष्ट्रों की जनता का अपने जीवन के अधिकारों के लिये प्रयत्न करना आवश्यक और स्वाभाविक है। इस कारण उपनिवेशों तथा पराधीन देशों में अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का कारण बना ही रहेगा।

व्यक्ति के जीवन से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तक में संकट का कारण आर्थिक विषमता ही है। समाज में पैदावार समाज के हित के लिये नहीं बल्कि श्रेणी विशेष के मुनाफ़े के लिये होती है। यही विषमता का कारण है। यह विषमता कायम रखने के लिये पूँजीवादी समाज में सरकार की व्यवस्था और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्य की व्यवस्था की जाती है।

मार्क्सवाद समाज में एक नई व्यवस्था लाने के लिये यत्न करना चाहता है जिसमें यह सब विषमतायें और बन्धन न रहें जो व्यक्ति और समाज के विकास को असम्भव बना रहे हैं। मार्क्सवाद के सिद्धान्त इस प्रकार की नयी व्यवस्था कायम करने की शक्ति रखते हैं या नहीं, यह स्पष्ट करने के लिये उन्हें उनके वास्तविक रूप में रख देने का यत्न किया गया है

समाज में शान्ति और व्यवस्था क़ायम करने के लिये समय-समय पर अनेक सिद्धान्तों का जन्म हुआ है। इन सिद्धान्तों का समुच्चय ही समाज शास्त्र है। मार्क्सवाद आदि काल से संकलित होते आये समाजशास्त्र का सबसे नवीन अध्याय है।

---